अजी ! गूड शर्करा औ' राब । होते एक ही वस्तुके सब ।
अनुभवती है स्वाद जीभ । भिन्न भिन्न ॥ ३३ ॥

कुछ जान करके कहते । कुछ पुनः पुनः ज्ञान देते ।
कुछ जानतेमें है खो जाते । ज्ञेय गुणमें ॥ ३४ ॥

सारे अध्याय मैंने गुरु-कृपासे गाये है—

ऐसे हैं ये गीताके अध्याय । नवम है अनिर्वचननीय ।
गाया मैंने कर श्रवणीय । तव सामर्थ्यसे ॥ ३५ ॥

किसीके दंडसे सूर्योदय कराया । किसीसे नव-विश्व ही है रचाया ।
सिंधुमें पाषाण तैराके उतराया । सैन्य तुमने ॥ ३३ ॥

किसीसे आकाशमें सूर्य पकडवाया । किसीसे सागरका आचमन करवाया ।
तुमने ही मुझ गंवारसे है गवाया । अनिर्वचनीय ऐसे ॥ ३७ ॥

पर यह रहने दो तू ऐसे । राम-रावण भिडे थे कैसे ।
राम-रावण भिडे थे वैसे । समरमें जो ॥ ३८ ॥

वैसे नवमें श्री कृष्णका बोलना । उसे नवम जैसा ही है कहना ।
गीता-तत्वज्ञ जाने यह कहना । मेरा समुचित ॥ ३९ ॥

नवमका प्रारंभिक कथन । जिसका किया अल्पसा वर्णन ।
अब उत्तर खंडका श्रवण । कीजियेगा ॥ ४० ॥

यहां विभूति प्रति विभूति । धनुर्धरसे हैं कही जाती ।
उसमें चातुर्य-रस-वृत्ति । प्रतीत होगी ॥ ४१ ॥

ज्ञानेश्वरका मातृभाषा प्रेम-मेरा अनुवाद गीताके तोडका है—

यहां देशिका नागरिकपन । जीतेगा शांत श्रृंगारको जान ।
ओवियां ये होंगी महा-भूषण । साहित्यका ॥ ४२ ॥

मूल-ग्रंथ जो गीता संस्कृतका । तथा यह अनुवाद देशिका ।
जाननेसे मूल अनुवादका । होगा अनुभवैक्य ॥ ४३ ॥

जैसे शरीरका सुंदरपन । बनता अलंकारका भूषण ।
सजा कौन किससे यह ज्ञान । होता नहीं ॥ ४४ ॥

वैसे देशी और संस्कृतवाणी। सोहती सार्थ चिर-संगिनी।
भावार्थ-सिंहासन भूषिणी। शुद्ध भावसे ॥ ४५ ॥

खिलाया जहां भावोंका रूप। आया है रस-वृत्तिमें ओप।
प्रतिष्ठा मिली हमें अमाप। कहता चातुर्य ॥ ४६ ॥

वैसे देशीका लावण्य। जिससे लेके तारुण्य।
रचा है फिर अगण्य। गीता-तत्व ॥ ४७ ॥

ऐसा चराचर गुरुवर। जो चतुर चित्त चमत्कार।
वह सुनोजी यादवेश्वर। बोलने लगे ॥ ४८ ॥

कहे ज्ञानदेव निवृत्तिदास। सुनो श्री हरि बोले जो सरस।
अर्जुन तू है अव्यंग सर्वस। अंतः करणका ॥ ४९ ॥

भगवान उवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

मैं तेरी आंखों से दीखता हूं उतना ही नहीं—

हमने जो निरूपण किया। तेरा अवधान भी देख लिया।
वह भी हमने संपूर्ण पाया। धनुर्धर ॥ ५० ॥

देखना घटमें भर अल्प नीर। वह नहीं चुआ तो अधिक भर।
देखी तेरी चाह कुछ कह कर। अब कहता हूं सुन ॥ ५१ ॥

कोई आया जो अनायास। उस पर छोड़ा सर्वस।
हुआ मेरा निज-निवास। तू इस समय ॥ ५२ ॥

पार्थकी योग्यता देख सर्वेश्वर। ऐसे बोलने लगा सादर।
आती मेघमाला जैसे घर कर। देख हिमालय ॥ ५३ ॥

फिरसे सुन तू मेरी बात उत्तम अर्जुन।
प्रेमसे कहता तेरी करके हित-कामना ॥ १ ॥

बोले कृपालुओंके राज । सुन धनुर्धर तू आज ।
कहा था तुझको जो गूज । कहूंगा पुनरपि ॥ ५४ ॥

अजी ! प्रतिवर्ष जैसे खेत पेरना । हरे भरे खेतको फिर काट लेना ।
खेतमें श्रमने कभी न उकताना । पाने अधिक उपज ॥ ५५ ॥

पुनः पुनः पुट देनेसे । सुवर्ण चमकता जैसे ।
वैसा सुवर्ण खोजनेसे । मिलता नहीं ॥ ५६ ॥

यहां भी ऐसा ही है पार्थ । तेरे हित नहीं सर्वथा ।
सुनो अपने ही स्वार्थार्थ । बोलता मैं ॥ ५७ ॥

करनेसे शिशुका अलंकार । होगा क्या उसपर उपकार ।
देखके होंगे आनंद विभोर । स्वयं माता पिता ॥ ५८ ॥

जैसे तू अपना हित पूर्ण । जानेगा हम होंगे प्रसन्न ।
यह है वास्तविकता जान । हमारे कहनेकी ॥ ५९ ॥

जाने दो सुमन सुभाषित । तुझसे है ममत्व बहुत ।
औ' तुझे भाती है यह बात । तभी कहता हूं ॥ ६० ॥

अर्जुन हम इसी कारण । करते हैं तुझसे भाषण ।
सुन यह स-अंतःकरण । चित्त देकर ॥ ६१ ॥

सुन सुन तू यह मर्म । मेरा वाक्य यह परम ।
आया स्वयं अक्षर-ब्रह्म । तुझसे मिलने ॥ ६२ ॥

पार्थ तू मुझको न जानता । न जानो तो मैं यह कहता ।
अजी ! मैं जो यहां हूं बोलता । मानो ब्रह्मांड ही है ॥ ६३ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

यहां वेद हुए मौन । लंगडा हुआ पवन ।
बिन रातके विलीन । होते रवि-शशि ॥ ६४ ॥

न देव जानते मेरा प्रभाव न महर्षि भी ।
सभी प्रकारसे मैं हूं उनका मूल कारण ॥ २ ॥

सब कोयी मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं इसलिये मुझे कोयी नहीं जानता—

अजी ! गर्भ जो है उदरका । नहीं जानता पय माताका ।
वैसे ही ज्ञान-जात देवोंका । मेरे विषयमें ॥ ६५ ॥

जलचरोंको सागरका भान । गुरगुरेको जैसा है गगन ।
वैसा ही महर्षियोंका ज्ञान । मेरे विषयमें ॥ ६६ ॥

मैं हूँ कौन तथा हूँ कितना । कब किससे हुआ उत्पन्न ।
इसपे न कहा है वचन । युग-युगोंसे ॥ ६७ ॥

महर्षी तथा वे देव । ये भूतजात हैं सर्व ।
मैं अनादि हूँ पांडव । जान तू यह स्पष्ट ॥ ६८ ॥

उतरा हुआ नीर चढेगा पर्वत । वृक्ष बढता जायेगा जड पर्यंत ।
जानेगा तब मुझसे बना जगत । मुझे पूर्ण ॥ ६९ ॥

या वटांकुरमें वृक्ष समायेगा । अथवा उर्मीमें सागर डूबेगा ।
या परमाणुमें ही समा जायेगा । ब्रह्मांड गोल ॥ ७० ॥

तो भी मुझसे बने थे जीव । महर्षी अथवा जो हैं देव ।
मुझे जाननेमें हैं पांडव । लेंगे समय बहुत ॥ ७१ ॥

मुझे जाननेके लिये इंद्रियोंको अंतरमुख करो—

मुझे जानना है यद्यपि कठिन । कोई रखे इंद्रिय बहिर्गमन ।
कर उसको अंतर्मुख विलीन । अपनेमें ही ॥ ७२ ॥

बढ़ता है वह मेरी ओर । चढ़ भूतोंके सिरपर ।
छोडके अगत्य संसार । धनंजय ॥ ७३ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जाने जो मैं अजन्मा हूं स्वयम्भू विश्व-चालक ।
निर्मोही हो मनुष्योंमें छूटता सब पापसे ॥ ३ ॥

ली भांति यहां रह कर। स्व-प्रकाशम हा जानकर।
खता अजत्व जो प्रखर। मेरे नयनों से ॥ ७४ ॥
मैं हूं अनादिसे पर। सर्व लोक महेश्वर।
मुझको ऐसा जो नर। जानता है ॥ ७५ ॥

पाषाणमें वह पारस। रसमें है जो सिद्धरस।
मनुष्याकृतिमें जो अंश। मेरा ही जान ॥ ७६ ॥

जंगम बिंब है वह ज्ञानका। अवयव सुखके अंकुरका।
प्रकाश है वह मानवताका। लोकदृष्टिका है भ्रम ॥ ७७ ॥

कर्पूरमें हिरा मिला। उस पर पानी डाला।
कर्पूर सब पिघला। प्रकटा हीरा ॥ ७८ ॥

रूपमें है वह मानुष। देखनेमें अन्य सदृष।
न स्पर्धते प्रकृति-दोष। उसको कभी ॥ ७९ ॥

उसको छोड जाते हैं सब पाप। जैसे जलता चंदन वृक्ष साप।
वैसे ब्रह्म-ज्ञानीको कोई संकल्प। कभी छूता नहीं ॥ ८० ॥

होना यदि मेरा ज्ञान। ऐसा चाहता है मन।
मैं कैसा हूँ यह जान। तथा मज्जन्य वस्तु ॥ ८१ ॥

सभी है मेरे ही विकार। भूतमात्रके रूप धर।
फैले हैं त्रिलोकमें भर। धनंजय ॥ ८२ ॥

बुद्धिर्ज्ञानसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धि ज्ञान क्षमा शांति सत्य निर्मोह निग्रह।
जन्म-मृत्यु सुख-दुःख लाभालाभ भयाभय ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टि तप दान यशायश।
हुये ये मुझसे भाव भूतोंमें भिन्न भिन्न जो ॥ ५ ॥

प्रथम है जान तू बुद्धि। फिर ज्ञान जो निरवधि।
असंमोह सहन सिद्धि। क्षमा सत्य ॥ ८३ ॥
तव इंद्रिय मन दमन। सुख दुखमें समवर्तन।
भाव अभाव मान अर्जुन। मेरे ही विकार ॥ ८४ ॥
भय तथा अभयता। अहिंसा तथा समता।
मेरा रूप पांडुसुत। जान तू यह ॥ ८५ ॥
दान यश अपकीर्ति। इन भावोंकी वसती।
मेरी ओरसे है होती। सब भूतोंमें ॥ ८६ ॥
जैसे भूत जात भिन्न भिन्न। वसे मेरे गुण भी है जान।
होते मेरे ज्ञानसे उत्पन्न। कुछ अज्ञानसे भी ॥ ८७ ॥
जैसे प्रकाश औ' अंधार। लेकर सूर्यका ही आधार।
फैलता अस्तमें है अंधार। उदयमें वैसे प्रकाश ॥ ८८ ॥
मेरा ज्ञान और अज्ञान। है जो दैवके ही कारण।
तभी भूतोंमें भाव जान। कम और अधिक ॥ ८९ ॥
तभी जीव सृष्टि संपूर्ण। मेरे ही विकारमें तू जान।
उलझी हुई यहां अर्जुन। जान तू यह ॥ ९० ॥
अब इस सृष्टिके पालक। जिसके आधीन होते लोक।
वे ग्यारह भाव भिन्न देख। कहता तुझे ॥ ९१ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

संपूर्ण गुणसे जो वृद्ध। औ' महर्षियोंमें प्रबुद्ध।
जो हैं कश्यपादि प्रसिद्ध। सप्त-ऋषी ॥ ९२ ॥
चौदह मनु जो विख्यात। उसमें चार प्रतिष्ठित।
स्वयंभू आदि ख्याति प्राप्त। कहे हैं अन्य ॥ ९३ ॥

महर्षि सात आदीके मनु जो चार हैं तथा।
मेरे संकल्पसे भाव लोकमें उनकी प्रजा ॥ ६ ॥

ऐसे एकादश ये समस्त। मेरे मनसे ही है निर्मित।
सृष्टि व्यापार संचलनार्थ। धनुर्धर ॥ ९४ ॥

न हुए थे लोक व्यवस्थित। ये त्रिभुवन अनधिष्टित।
तथा यह सब भूतजात। जो था पडा हुआ ॥ ९५ ॥

तभी हुए ये ग्यारह उत्पन्न। उन्होने ही लोकपाल निर्माण।
करके उनको अध्यक्ष जान। रखा यहां ॥ ९६ ॥

इसलिये ये ग्यारह राजा। उनके रहे अनेक प्रजा।
है विस्तार यह सजा-धजा। मेरा ही सारा ॥ ९७ ॥

पहले होता है बीज एक। वही बनता तना नेक।
उसमें ही अंकुर अनेक। निकलते हैं ॥ ९८ ॥

उस अंकुरके अनेक। निकलते शाखोपशाख।
शाखाओंमें फुटते देख। असंख्य पल्लव ॥ ९९ ॥

उन पल्लवोंमें फल फूल। वृक्षत्व बहरता सकल।
चिंतन रतको है केवल। बीज-मात्र ॥ १०० ॥

वैसे मैं आदि एक ही जान। उत्पन्न है मुझसे ही मन।
मनसे सप्तऋषी उत्पन्न। तथा मनु भी ॥ १ ॥

उन्होंने किये लोकपाल निर्माण। लोक-पालोंने किया लोकसृजन।
लोकोंसे हुई नाना प्रजा उत्पन्न। दीखती जो ॥ २ ॥

ऐसे इस विश्वका निर्माण। किया मैंने ही पूर्ण रूपेण।
चिंतन रतको होता ज्ञान। अन्यको नहीं ॥ ३ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

मेरा जो योग-विस्तार जानता यह तत्वतः।
वह निश्चय पायेगा इस निष्कंप योगको ॥ ७ ॥

मैं सर्व व्यापी हूँ इसलिये "जो जो मिला भूत। उसे मान भगवंत"—

इसी लिये सुभद्रा-पति । ये भाव मेरी ही विभूति ।
तथा उसकी है ये व्याप्ति । संपूर्ण विश्व ॥ ४ ॥

इसीलिये सुन तू पार्थ । ब्रह्मादिसे चींटि पर्यंत ।
बिना मेरे दूसरी बात । नहीं है विश्वमें ॥ ५ ॥

ऐसे जो जानता यथार्थ । ज्ञान बोधसे हो जागृत ।
उसे नहीं दुःस्वप्न द्वैत । उत्तम-मध्यमादिक ॥ ६ ॥

मैं तथा मेरी विभूति । औ' विभूति व्याप्त व्यक्ति ।
एक है यह प्रतीति । करता वह ॥ ७ ॥

ऐसे जो संदेह रहित । अनुभव-ज्ञान सहित ।
मिलकर हुआ कृतार्थ । मनसे मुझमें ॥ ८ ॥

ऐसे जो मुझको भजता । अभेद दृष्टिसे जानता ।
भजन नादमें झूमता । उसके मैं ॥ ९ ॥

भक्तियोग यह भेद रहित । है अखंड तथा संशयातीत ।
आचारमें टूट भी शुभदाता । ऐसा कहा छटेमें ॥ ११० ॥

मेरा यह अभेद ज्ञान। जानना चाहता तो मन ।
कहता हूं उसको सुन । ध्यान देकर ॥ ११ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मुझसे ही यह संपूर्ण । होता है विश्वका जनन ।
तथा है पालन पोषण । मुझसे ही ॥ १२ ॥

जैसे जल-कल्लोल माल । उसका जन्मदाता जल ।
औ' आधार भी वही जल । तथा जीवन भी ॥ १३ ॥

मुझमें सबका मूल प्रेरणा मुझसे सब ।
यह जान मुझे ज्ञानी भजता भक्ति-भावसे ॥ ८ ॥

जैसे वहां सर्वत्र कहीं । जलके बिना कछु नहीं ।
वैसे विश्वमें जहां कहीं । मेरे बिन ना कछु ॥ १४ ॥

मुझे ऐसे व्यापक मान । भजन करते सर्व स्थान ।
ये उनके भजन पूजन । प्रकट है प्रेम-भावसे ॥ १५ ॥

देशकाल वर्तमान । मुझमें देख अभिन्न ।
जैसे वायु हो गगन । फिरता गगन में ॥ १६ ॥

ऐसे निज-ज्ञान संपन्न । हो विचरते त्रिभुवन ।
मुझको जगद्रूप मान । अंतः करणमें ॥ १७ ॥

जो जहां मिलता है भूत । उसीको माना भगवंत ।
यह भक्ति-योग निश्चत । मेरा जान ॥ १८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

दो भक्तोंकी भेंट आनंद-महोत्सव है—

अन्तःकरण मैं बना । प्राण भी मद्रूप बना ।
भूला है जीव मरण । बोध-भूलसे ॥ १९ ॥

फिर बोधके नशामें । औ' संवादके सुखमें ।
नाचते लेने देनेमें । ज्ञानानंदके ॥ २० ॥

जैसे समीपके दो सरोवर । उमड आते जब परस्पर ।
बनाते तब तरंग ही घर । तरंगको वैसे ॥ २१ ॥

होता जब भक्तसे भक्तका मिलन । मानो आनंदसे आनंदका गुंफन ।
ज्ञानसे करता ज्ञानका ही भूषण । ज्ञानके लिये ॥ २२ ॥

सूर्यसे सूर्यकी आरती उतारना । चंद्रने चंद्रका आलिंगन करना ।
या-गंगा यमुनाका है मिलन होना । वैसे ही धनंजय ॥ २३ ॥

चित्त प्राण मुझे मान बोध देते परस्पर ।
मेरे कीर्तनमें नित्य रमते तुष्ट होकर ॥ ९ ॥

जैसे प्रयाग है समरसका। संगम प्रवाह सात्विकताका।
हुआ जो सुसंवाद चौराहेका। गणपति ही मानो॥ २४॥

तब है महा सुखके नशामें। उडे देह-ग्रामके बाहरमें।
आत्म-तृप्तिके गर्जनानंदमें। गूंजता गगन॥ २५॥

गुरु शिष्यका एकांत-स्थल। वहां भी देखके देश-काल।
कहनेकी बात जो मंगल। गरजते हैं मेघ-से॥ २६॥

पूरा खिला हुआ जो कमल। समा न सकता परिमल।
अभेद रूप देता प्रफुल्ल। आमोदोन्माद॥ २७॥

सदा सर्वत्र मेरा गुणवर्णन। औ' वर्णनानंदमें खो जाता कथन।
उस खोनेमें घुलते तन मन। जीव सहित॥ २८॥

जीत लिया मत्सुख पूर्ण। प्रेमोत्कर्षमें हो बे-भान।
भूले देश-काल भी पूर्ण। अपनेमें ही॥ २९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

भक्त केवल मेरा प्रेम-सुख चाहते हैं—

हमको उन्हे जो कुछ देना था। उन्होने पहले ही पालिया था।
हमारे दिये बिना कमाया था। फिर रहा क्या देनेको॥ १३०॥

उनका जो निश्चित पथ। उसके सम्मुख है पार्थ।
स्वर्ग-मोक्ष आदिके पथ। जैसी पगडंडियां॥ ३१॥

अंगीकार किया उन्होंने प्रेम। दे देना है जो हमारा नियम।
कर लिया उन्होने वही काम। नाम लिया हमारा॥ ३२॥

अनुदिन वह बढते जाये। कालकी दृष्टि नहीं पड पाये।
इतना ही काम हमारे लिये। रहता है तब॥ ३३॥

ऐसे मगन जो नित्य भजते प्रीति-पूर्वक।
देता उन्हे बुद्धि योग जिससे मैं मिलूं उन्हे॥ १०॥

ममता दृष्टिका आच्छादन कर। जैसे दौडती है माता धनुर्धर
शिशुके पीछे सदा बध्द होकर। रहता जो क्रीडारत ॥ ३४ ॥

शिशु जब जो जो खेल दिखाता। उसे स्वर्णमय करती माता।
वैसे भक्तका प्रभुत्व बढाता। मैं उपासनामें ॥ ३५ ॥

उस उपासना पोषणसे। भक्त मिलन होगा मुझसे।
देखता है इस भांतिसे। भाता है मुझे ॥ ३६ ॥

अजी ! भक्तकी मुझे है आस। उसकी एक-निष्ठाकी प्यास।
प्रेमी भक्तोंका अकाल खास। रहता मेरे यहां ॥ ३७ ॥

स्वर्ग औ' मोक्षके पथ। छोड दिये उन्हीके हाथ।
दिया तन लक्ष्मीके साथ। शेषके आधीन ॥ ३८ ॥

अपने पास केवल एक। रखा है निर्मल प्रेम-सुख।
वह प्रेमियोंके लिये देख। किया जतन ॥ ३९ ॥

जैसे कहा मैंने अब तक। देखके अपनत्व नेक।
लेते प्रेमियोंका प्रेम एक। जो शब्दसे परे ॥ ४० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

मुझ आत्मामें ही प्रेम-भाव। जिन्होने किया जीनेका ठाव।
उसके बिना अन्य पांडव। सब है व्यर्थ ॥ ४१ ॥

ऐसे प्रिय तत्वज्ञोंके सम्मुख। कर्पूर मशाल हाथमें रख।
चलता हूं मैं आगे आगे देख। राह दिखाते ॥ ४२ ॥

उनको अज्ञान रातमें। घिरे हुए घने तममें।
दूर कर तम राहमें। करता नित्योदय ॥ ४३ ॥

अर्जुनको कृष्ण परब्रह्म होनेका भास—

प्रिय भक्तोंका प्रियतम। बोला जब पुरुषोत्तम।
कहा अर्जुनने सप्रेम। मन हुआ शांत ॥ ४४ ॥

करुणा करके मैं ही हियमें रहके नित।
तेजस्वी ज्ञान ज्योतीसे अज्ञान तम नाशता ॥ ११ ॥

अजी ! मुझे क्या सुना दिया । संसार तापसे दूर किया ।
जन्म-मरणसे है छुडाया । कृपाकर प्रभु ॥ ४५ ॥

यह नव-जन्म अपना । देखते अपने नयन ।
मेरे हाथ आया जीवन । मन भाया जो ॥ ४६ ॥

उज्वल हुआ आज आयुष्य । हुआ दैव दशाका उदय ।
वाक्प्रसाद पाया है सदय । दैव मुखसे ॥ ४७ ॥

तेरे वचनके प्रकाशसे । अंतर्बाह्य तम मिटनेसे ।
देखता हूं यथार्थ रूपसे । स्वरूप तेरा ॥ ४८ ॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

अजी ! वही है तू परब्रह्म । महाभूतोंका विश्राम-धाम ।
पवित्र तम अति परम । जगन्नाथ ॥ ४९ ॥

परम दैवत तू तीनोंका । पुरुष है तू पंचवीसका ।
दिव्य है तू प्रकृति भावका । परे है जो श्रेष्ठ ॥ १५० ॥

स्वामी तू है अनादि-सिद्ध । जन्म रहित जो प्रसिद्ध ।
हमने पाया अब शुद्ध । स्वरूप तेरा ॥ ५१ ॥

काल-यंत्रका तू सूत्रधार । जीवन कलाका कर्णधार ।
तू ही है ब्रह्मांडका आधार । जाना यह निश्चित ॥ ५२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

यहां ओर ही एक भांति । आती है इसकी प्रतीति ।
ऋषियोंने भी इसी भांति । किया है वर्णन ॥ ५३ ॥

अर्जुनने कहा

पवित्र तू पर-ब्रह्म श्रेष्ठ जो मोक्ष-धाम तू ।
आत्मा शाश्वत औ' दिव्य अजन्मा आदि औ' विभु ॥ १२ ॥

गाते हैं ऋषि जो सारे तथा असित देवल ।
व्यास नारद देवर्षि वैसे ही आपने कहा ॥ १३ ॥

उन ऋषियोंने जो कहा था । अनुभवमें आयी सत्यता ।
कृपया आपने सुनाया था । इसीलिये अब ॥ ५४ ॥

आता था देव-ऋषि नारद । गाता था ऐसे वचन छंद ।
गानेका ही लेकर आनंद । खो देते थे अर्थ ॥ ५५ ॥

प्रकट हुए यदि भास्कर । अंधोंके ही गांवमें आकर ।
बिना उष्णताके तापकर । देखें प्रकाश कैसे ॥ ५६ ॥

सुन देवर्षि नारदका अध्यात्म-गान । उससे केवल नाद-माधुर्य ही सुन ।
चितसे न कर उसका सार-ग्रहण । छोड देते थे ॥ ५७ ॥

असित देवलके मुखसे । सुना है तेरा चरित्र ऐसे ।
किंतु चित्त विषय-विषसे । था अति ग्रस्त ॥ ५८ ॥

विषय-विष होता भयंकर । तीता विषय है अति मधुर ।
तथा परमार्थ होता मधुर । लगता तीता ही ॥ ५९ ॥

अजी ! औरोंका क्या कहना । भवनमें तेरा गुण गाना ।
व्यास देवका नित सुनाना । तेरा चरित्र श्रेष्ठ ॥ १६० ॥

अंधारमें चिंतामणि देखा । उपेक्षासे नहीं उठा सका ।
उजालेमें पहचान सका । ऐसे ही है यह ॥ ६१ ॥

वैसे व्यासादिकोंके वचन । मेरी भी जो चिद्रत्नोंकी खान ।
उपेक्षित पड़ी थी श्रीकृष्ण । बिना प्रकाशके ॥ ६२ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हिते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

फैले तेरे वाक्सूर्य किरण । ऋषि-वाक्योंका हुआ स्मरण ।
मिटा सब अपरिचितपन । तेरी कृपासे ॥ ६३ ॥

ज्ञान-बीज रूप थे उनके बोल । हृदय-भूमिमें जमे थे सकल ।
उसपे तेरी कृपाका यह ओल । संवाद फल आया ॥ ६४ ॥

मानता सत्य ये सारा स्वयं तू कहता मुझे ।
देव दानव कोयी भी तेरा रूप न जानते ॥ १४ ॥

अजी ! नारदादिक जो संत । उनकी उक्ति रूप सरिता ।
मैं महोदधि बना अनंत । संवाद सुखका ॥ ६५ ॥

मेरा अनेकानेक जन्म- । किया हुआ जो सत्कर्म ।
फला है यह अत्युत्तम । तू सद्गुरु रूप ॥ ६६ ॥

वैसे सुने थे वृद्धोंके वचन । सदैव तेरे ही गुण-वर्णन ।
हुई अब तेरी कृपा महान । तभी फले सब ॥ ६७ ॥

तभी भाग्य होता अनुकूल । उद्यम होते सब सफल ।
सुना था वह है जो सफल । हुआ गुरु कृपासे ॥ ६८ ॥

माली जिसमें जन्म बिताता । गाछ लगाकर जन्म देता ।
किंतु वसंतमें ही खिलता । अनायास ॥ ६९ ॥

जब विषम ज्वर उतरता । तभी रसनामें स्वाद आता ।
रसायन भी है जो फल देता । जब होता आरोग्य ॥ १७० ॥

वाचा श्रवण नयन प्राण । अनुभवते सार्थकपन ।
संचरता उसमें चेतन । तभी मात्र ॥ ७१ ॥

वैसे शब्दजातका अध्ययन । योगाभ्यासादि समस्त साधन ।
अपना कह सकते हैं जान । जब गुरु अनुकूल ॥ ७२ ॥

इस प्रतीतिके आनंदसे । नाचता अर्जुन निश्चयसे ।
कहता है हे देव ! कृष्णसे । तेरी बात मानी ॥ ७३ ॥

सच है यह कैवल्यपति । हुई मुझे त्रिशुद्ध प्रतीति ।
सुरासुर-नरादिकी मति । न जानती मुझे ॥ ७४ ॥

न सुनकर तेरा वचन । अपनेसे ही कर चिंतन ।
अशक्य है होना तेरा ज्ञान । हुआ मेरा निश्चय ॥ ७५ ॥

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

तू ही है अपने आप जानता पुरुषोत्तम ।
देव देव जगन्नाथ भूतेश-भूत भावन ॥ १५ ॥

जीव स्व-सामर्थ्यसे ईश्वरको नहीं जान सकता—

जैसे अपनी विशालता गगन। आप ही जानता संपूर्ण रूपेण।
अथवा जैसे अपना हो सपना। जानती पृथ्वी ॥ ७६ ॥

वैसे अपनी सर्वशक्ति। जानता तू ही लक्ष्मीपति।
यहां वेदादिककी मति। अकडती व्यर्थ ॥ ७७ ।

दौडनेमें जीतना मनको। आंकना हाथसे पवनको।
पार करना आदि शून्यको। कैसे संभव ॥ ७८ ॥

ऐसा है तुझे जानना। उसको कह सकना।
असंभव तेरे बिना। अन्य किसीको ॥ ७९ ॥

तू ही जानता अपनी बात। कहनेमें भी तू ही समर्थ।
देव! मेरे माथे का तू आर्त-। पसीना पोंछ दे ॥ १८० ॥

सुना क्या यह भूत-भावन। त्रिभुवन-गज-पंचानन।
सकल देव-देवतार्चन। जगन्नायक ॥ ८१ ॥

जानना चाहें तो तेरा बड़प्पन। उसके सम्मुख हम रजकण।
यह जान हुए तो सलज्ज मौन। नहीं अन्य उपाय ॥ ८२ ॥

चहूँ ओर सरिता सागर भरा। किंतु चातक बेचारा रहा कोरा।
स्वातीका बूंद ही उसका सहारा। वही उसका पानी ॥ ८३ ॥

वैसे गुरु है सर्वत्र चहूं ओर। किंतु कृष्ण! मुझे तेरा ही आधार।
रहने दो यह वचन विस्तार। कहो विभूतियोग ॥ ८४ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

तेरी जो विभूति संपूर्ण। जिससे तू व्याप्त भुवन।
कह तू दिव्य श्री कृष्ण। कृपा पूर्वक ॥ ८५ ॥

विभूति अपनी दिव्य मुझ अशेष तू कह।
जिससे विश्व है सारा व्याप्त हो कर तू रहा ॥ १६ ॥

विभूति जो यहां समस्त। लोगोंमें व्याप्त है अनंत।
जो है प्रधान औ' विख्यात। कर तू प्रकट ॥ ८६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

किस भांति जानुं तुझको। किस भांति गाऊं तुझको।
विश्व रूप कहूँ तुझको। न होगा चिंतन ॥ ८७ ॥

अजी! पीछे कहे जैसे। निज-भाव कहे वैसे।
अभी सविस्तर तैसे। कह तू एक भार ॥ ८८ ॥

किन भावोंका ले आधार। भजनेसे है सुखकर।
कह वह मुझे सत्वर। विभूति-योग ॥ ८९ ॥

विस्तारेणाऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वंतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अर्जुनकी विभूति-विस्तार सुननेकी इच्छा—

मैंने पूछा जो विभूति। वहि कहो भूतपति।
पुनः इसकी पुनरुक्ति। करना क्या ॥ १९० ॥

ऐसी आवे तो भाव कल्पना। उसको जाने दो जनार्दन।
मुझ जैसेको अमृत पान। ना न कहलाता ॥ ९१ ॥

कालकूटका जो सहोदर। मृत्यु भयसे पिये अपार।
किंतु चतुर्देश पुरंदर। होते जाते हैं ॥ ९२ ॥

ऐसा वह क्षीराब्धिका रस। उसमें है अमृतका वास।
उसके जो माधुर्य मृष्टांश। नहीं छोडा जाता ॥ ९३ ॥

उस अल्पामृतकी यह महता। उस सामान्यकी वह मधुरता।
यहां तेरा वचन परमामृत। कहना क्या ॥ ९४ ॥

योगेश जानुं मैं कैसे तुझे चिंतनमें नित।
कौन कौन स्वरूपोंमें करूं मैं तव चिंतन ॥ १७ ॥

योग-विभूति-विस्तार कह तू अपना निज।
सुनके न अघाता मैं वचनामृत पानसे ॥ १८ ॥

दाराचलको न उतराना। क्षीर सागरको नहीं मथना।
नादि सिद्ध जो अमृत पीना। वह भी अनायास ॥ ९५ ॥

है वह द्रव या बद्ध। न है वहां रस औ' गंध।
ह मिलता नित्य-सिध्द। स्मरते ही ॥ ९६ ॥

न कर होता निरास। निश्चित संसारका पाश।
था आति नित्यता पास। अपने आप ॥ ९७ ॥

मिटती जन्म-मृत्युकी भाषा। भूल जाता सर्वस निःशेष।
र्तबाह्य वह महा-सुख। बढता जाता ॥ ९८ ॥

था दैवयोगसे होता सेवन। सेवनसे अमृत होता है प्राण।
ता है स्वयं श्री कृष्ण भगवान। ना न कहता चित्त ॥ ९९ ॥

हज भाता है चित्तको नाम। दर्शन होता रहता परम।
था ज्ञान देता अमृतोपम। आनंद मगन हो ॥ २०० ॥

नुभवता मैं कैसा सुख। कह न सकता परितोष।
थित कथन कृष्णमुख-। करता है आनंद ॥ १ ॥

नादि भास्कर क्या बासी होता। अस्नात अग्नि अमंगल होता।
दी प्रवाह क्या पुराना होता। समय बीतनेसे ॥ २ ॥

न तेरे मंगल वचन। किया है नाद-ब्रह्म दर्शन।
था कृष्णागरुके सुमन। बटोर लिये हैं ॥ ३ ॥

नकर पार्थके वचन। डुला कृष्णका अंतःकरण।
हता है भक्ति ज्ञान पूर्ण। सागर बना यह ॥ ४ ॥

प्रिय सखाके प्रेममें मस्त। उमडते स्नेहमें हो ग्रस्त।
ष्टसे संयत हो अनंत। बोलता क्या ॥ ५ ॥

भगवान उवाच
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

सुन मैं कहता दिव्य मुख्य मुख्य विभूतियां।
मेरा विभूति-विस्तार न टूटता कभी कहीं ॥ १९ ॥

भगवानकी अनंत विभूतियोंकी कल्पना—

मैं हूँ पितामहका पिता। स्मरनेसे भी है भूलता।
कहता बाबा पांडुसुत। अच्छा किया तूने ॥ ६ ॥

बाबा! कहता वह अर्जुनको। इसमें विस्मय नहीं हमको।
शिशु हो कहा नहीं क्या नंदको। बाबा! उसने ॥ ७ ॥

यहांका प्रसंग है ऐसे। प्रेमोद्रेकमें होता वैसे।
कृष्ण कहता अर्जुनसे। सुन धनंजय ॥ ८ ॥

नूने पूछा हैं मेरी विभूति। अनंत हैं वे सुभद्रापति।
मेरी होकर भी मेरी मति। न जानती उन्हे ॥ ९ ॥

शरीरमें रोम हैं किती। जिसका उसे न गिनती।
वैसी ही है मेरी विभूति। अनगिनत मुझे ॥ २१० ॥

वैसा भी मैं कैसा कितना। ज्ञान नहीं मुझे अपना।
सबसे रूढ जो प्रधान। कहता हूं तुझे ॥ ११ ॥

जिनको जाननेसे है पार्थ। सभी जान लिया होता।
बीज जब हाथमें है आता। आया वृक्ष जैसा ॥ १२ ॥

या स्वाधीन होनेसे उपवन। आते सभी वृक्ष फल सुमन।
वैसे जान लिया कर चिंतन। आता चितमें विश्व ॥ १३ ॥

वैसे सच ही है धनुर्धर। अनंत है जो मेरा विस्तार।
अकाशका जो महा विस्तार। छिप जाता मुझमें ॥ १४ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

कुंतलालक मस्तक सुन। धनुर्वेद त्र्यंबक अर्जुन।
बसा मैं हियमें आत्मा बन। भूतमात्रके ॥ १५ ॥

अंदर भी मैं हूँ अंतःकरणमें। बाहर भी मैं आवरण रूपमें।
मैं ही हूँ आदिमें तथा निर्वाणमें। मैं मध्यमें भी ॥ १६ ॥

हियमें सबके मैं हूँ बसता आत्म रूपसे।
मैं आदि भूत मात्रोंको मध्य मैं और अंत भी ॥ २० ॥

वैसे मेघ तलमें गगन । अंदर बाहर सूक्ष्म स्थान ।
आकाशमें इनका जनन । रहना भी वहीं ॥१७॥

फिर ये सब लय हो जाते । अकाश ही बनके रहते ।
वैसे आदि अंत लय होते । भूतमात्र मुझमें ॥ १८ ॥

ऐसा विविध व्यापक पन । मेरा विभूति विस्तार जान ।
जीवका कर तू अब कान । सुन जो सुना था ॥ १९ ॥

अब भी मेरी वे जो विभूति । सुनना है क्या सुभद्रापति ।
पुनरुक्ति करता सप्रीति । प्रधान रूपसे ॥ २२० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

भगवानकी प्रधान ऐसी पिचत्तर विभूतियां —

यह कह बोला प्रेममें । मैं हूं विष्णु आदित्योंमें ।
तथा सूर्य ज्योतिर्वंतोंमें । जो है रश्मिवंत ॥ २१ ॥

मरीचि मैं मरुतोंमें । चंद्र मैं तारागणोंमें ।
बोले श्रीकृष्ण रणमें । गगन रंगके ॥ २२ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदोंमें मैं सामवेद । कहता वह गोविंद ।
देवोंमें मरुद्बंधु । महेंद्र हूँ मैं ॥ २३ ॥

इंद्रियोंमें मैं हूँ मन । जो है ग्यारहवा जान
भूतमात्रोंमें चेतन । स्वभावसे मैं ॥ २४ ॥

आदित्योंमें महा विष्णु सूर्य मैं ज्योतिमानमें ।
मरीचि मुख्य वायुमें नक्षत्रोंमें शशांक मैं ॥ २१ ॥

मैं सामवेद वेदोंमें देवोंमें देव-राज मैं ।
मन हूँ इंद्रियोंमें मैं चेतना भूत-मात्रमें ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षराक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

मैं हूँ रुद्रोंमें शंकर । कामसे जिसका वैर ।
निःसंशय धनुर्धर । निभ्रांत मान तू ॥ २५ ॥
यक्ष-रक्ष गणमें विख्यात । शंभुका मित्र जो धनवंत ।
वह कुबेर मैं हूँ अनंत । कहने लगा ॥ २६ ॥
वैसे ही मैं वसुओंमें । अग्नि हूँ जान मनमें ।
सर्वोच्च मैं शिखरोंमें । मेरु हूं गिरीश जो ॥ २७ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिं ।
सेनानिनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

स्वर्ग सिंहासन सहायक । सर्वश्रेष्ठ सर्वज्ञ जो नेक ।
पुरोहित स्वर्गका प्रमुख । मैं वह बृहस्पति ॥ २८ ॥
त्रिभुवनका श्रेष्ठ सेनापति । कहलाता स्कंद जो महामति ।
अग्नि कृत्तिका जान जो विभूति । शिव वीर्य से ॥ २९ ॥
विश्वके सकल सरोवरमें । जल राशिमें समुद्र रूपमें ।
तपोराशि हूँ में महर्षियोंमें । कहलाता भृगु मुनि ॥ २३० ॥
सकल अक्षरोंमें जो है श्रेष्ठ । जहां सत्योत्कर्ष परमोत्कट ।
ज्ञानी जन जिससे एक निष्ठ । वह ओंकार मैं हूँ ॥ ३१ ॥

कुबेर यक्ष रक्षोंमें रुद्रोंमें मैं सदाशिव ।
मेरू मैं गिरि-मालामें अग्नि मैं वसु वर्गमें ॥ २३ ॥
बृहस्पति मुझे जान पुरोहित प्रधान जो ।
स्कंद सेनाधिपोंमें मैं समुद्र जल-राशिमें ॥ २४ ॥
मैं एकाक्षर वाणीमें भृगु मैं ऋषि-वृंदमें ।
जप हूं सब यज्ञोंमें स्थावरोंमें हिमालय ॥ २५ ॥

जो है समस्त यज्ञोंमें। जपयज्ञ मैं लोकमें।
कर्म-त्याग प्रणवादिमें। नित्य होता ॥ ३२ ॥

अजी! जप यज्ञ जो परम। बांध न सकते यज्ञादि कर्म।
नामसे पावन धर्म-अधर्म। परब्रह्म वेदार्थ ॥ ३३ ॥

स्थावरोंमें जो पर्वत। पुण्य रूप रहा स्थित।
पुण्य-पुंज हिमवंत। मैं हूँ जान तू ॥ ३४ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् देवर्षिणां च नारदः।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलोमुनिः ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेंद्राणाम् नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

कल्पद्रुम औ' पारिजात। गुणमें चंदन है ख्यात।
फिर भी वृक्षोंमें अश्वत्थ। मेरी विभूति है ॥ ३५ ॥

देवऋषियोंमें मुझे पार्थ। जानना तू नारद यथार्थ।
तथा गंधर्वोंमें चित्ररथ। मुझे ही जान ॥ ३६ ॥

सभी सिध्दोंमें महासिद्ध। कपिलाचार्य जो प्रबुद्ध।
तुरंगोंमें जो है प्रसिद्ध। उच्चैःश्रव मैं ॥ ३७ ॥

गजोंमें मैं हूं राज-भूषण। ऐरावत स्वर्ग-भूषण।
पय-राशि कर मंथन। निकाला अमृतांश ॥ ३८ ॥

यहां मैं नरोंमें जो राजा। विभूति विशेष सहज।
जन कहलाते हैं प्रजा। जिसकी सब ॥ ३९ ॥

अश्वत्थ सब वृक्षोंमें देवर्षि बीच नारद।
चित्ररथ गंधर्वों में सिद्धोंमें कपिलमुनि ॥ २६ ॥

उच्चैश्रवा अश्वोंमें मैं निकला जो अमृतसे।
ऐरावत गजेंद्रोंमें नरोंमें मैं नराधिप ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनुनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

वज्र हूँ मैं हथियारोंमें । पकडता इंद्र करमें ।
जो शतमख करनेमें । होता है उत्तीर्ण ॥ २४० ॥

धेनुओंमें मैं कामधेनु । कहता कृष्ण भगवान ।
जन्मदात्रोंमें मैं मदन । जान तू यह ॥ ४१ ॥

सर्प कुलका अधिष्ठाता । वासुकि हूँ मैं कुंति-सुत ।
नागोंमें जो कहलाता । वह अनंत मैं हूँ ॥ ४२ ॥

जलराशी में पांडुसुत । पश्चिम प्रमदाका कांत ।
कहता है देवकी सुत । मैं हूँ वरुण ॥ ४३ ॥

तथा पितृगणोंमें समस्त । जो है अर्यमा पितृ-देवता ।
वह मैं ही यह तत्वता । जान तू अर्जुन ॥ ४४ ॥

जगका कर शुभाशुभ लेखन । तथा प्राणियोंके मनका दर्शन ।
तदनुरूप करते नियमन । पाप-पुण्य फलका ॥ ४५ ॥

उन नियमितोंमें यम । सर्व साक्षी रूप मैं धर्म ।
कहता यह आत्माराम । मैं हूं वह ॥ ४६ ॥

प्रल्हादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्
मृगानां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

मैं कामधेनु गायोंमें शस्त्रोंमें वज्र मैं रहा ।
उत्पत्ति हेतु मैं काम मैं सर्वोत्तम वासुकी ॥ २८ ॥
मैं हूँ वरुण पानीमें नागोंमें शेष-नाग मैं ।
पितरोंमें अर्यमा हूँ यम संयम-कारक ॥ २९ ॥
मैं हूँ प्रल्हाद दैत्योंमें काल हूँ गणितज्ञमें ।
मृगोंमें मैं मृगराज पक्षियोंमें खगेंद्र हूँ ॥ ३० ॥

दानव कुल तिलक। भक्त प्रल्हाद मैं नेक।
आसुरी गुणोंमें देख। न हुआ जो लिप्त ॥ ४७ ॥
ग्रासनेमें मैं महाकाल। कहता है वह गोपाल।
श्वापदोंमें मैं शार्दूल। जान तू यह ॥ ४८ ॥
पक्षि-जातिमें तू सुन। गरुड हूं मैं अर्जुन।
तभी तो वह आसन। हो सका मेरा ॥ ४९ ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

पृथिवीका है जो पसारा। क्षण भरमें धनुर्धर।
उड्डाण जो सप्तसागर। करते रहते ॥ २५० ॥
ऐसे रहते जो गतिवंत। उनमें पवन मैं पांडुसुत।
शस्त्र-धारियोंमें जो हैं समस्त। श्रीराम मैं हूं ॥ ५१ ॥
पक्ष लेके संकटग्रस्त धर्मका। सहारा मात्र अपने धनुष्यका।
मोड़ लिया मुख विजय लक्ष्मीका। जिसने अपनी ओर ॥ ५२ ॥
चढकर पर्वत मस्तक सुवेली। प्रताप लंकेश्वरकी मस्तकावली।
आकाशस्त भूतोंको दी हस्त-बलि। जो चीखते थे ॥ ५३ ॥
बढाया उन्होंने देवोंका मान। किया धर्मका जीर्णोद्धार जान।
जनमा सूर्यवंशको महान। मानो सूर्य रूप ही ॥ ५४ ॥
ऐसा जो धनुर्बाण हस्त। रामचंद्र मैं सीता-कांत।
तथा मकर पुच्छवंत। मैं हूं जलचरोंमें ॥ ५५ ॥
अजी! जान तू सकल जल ओघ। उसमें भगीरथकी लायी गंगा।
उसको निगले जन्हुकी जांघ। फाड आयी जो ॥ ५६ ॥
वह त्रिभुवनैक सरिता। जान्हवी है सुन पांडुसुत।
जल प्रवाहोंमें समस्त। मेरी विभूति है ॥ ५७ ॥

राम मैं शस्त्र-वीरोंमें वायु मैं वेगवानमें।
मत्स्योंमें मैं बना नक्र नदियोंमें गंगा नदी ॥ ३१ ॥

ऐसी मेरी विभूति अनेक । उनका नाम लूं मैं एकेक ।
बीतेंगे सहस्र जन्म देख । सुननेमें ही ॥ ५८ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः समासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

नक्षत्र चुनना आकाशके पूर्ण । ऐसी अपेक्षा जब करेग मन ।
तब पोटलीमें बांधना गगन । यही है अच्छा ॥ ५९ ॥

यदि पृथ्वीके परमाणु गिनना । तो पृथ्वीको ही बगलमें दबाना ।
वैसा विस्तार यदि मेरा जानना । तो मेरे ही ज्ञानसे ॥ २६० ॥

जैसे शाखाओंके फूल फल । बटोरना चाहे तो सकल ।
उखाडना वृक्ष सहमूल । लेना हाथमें ॥ ६१ ॥

वैसी मेरी विभूति विशेष । जानना चाहे यदि अशेष ।
मेरा स्वरूप एक निर्दोष । जानना होगा ॥ ६२ ॥

अन्यथा भिन्न भिन्न विभूति । कहें कितनी सुभद्रापति ।
एक बातमें ही जान महामति । मैं हूँ सर्वस्व ॥ ६३ ॥

मैं हूं संपूर्ण सृष्टिमें । अजी ! आदि मध्यांतमें ।
होते हैं जैसे पटमें । तंतु ही तंतु ॥ ६४ ॥

व्यापक ऐसे मुझे जानना । विभूति-भेद है क्या करना ।
तुझमें योग्यताका न होना । सो कहना पड़ा ॥ ६५ ॥

या तूने पूछ लिया है पार्थ । इसीलिये कहता विस्तृत ।
विद्याओंमें जान तू प्रस्तुत । मैं हूँ आत्म-विद्या ॥ ६६ ॥

आदि मध्य तथा अंत मैं चराचर सृष्टिका ।
विद्यामें आत्म-विद्या मैं वादिका तत्व-वाद मैं ॥ ३२ ॥
मैं हूँ द्वंद्व समासोंमें अक्षरोंमें अकार मैं ।
मैं ही अक्षय जो काल विश्वकर्ता विराट् स्वयम् ॥ ३३ ॥

वाद जो है बोलनेवालोंमें। जान तू वह हूँ मैं संक्षेपमें।
कभी न आते एक मतमें। जिससे शास्त्र ॥ ६७ ॥

विषय-निश्चयमें जो बढता। सुनके तर्कका जोर चडता।
तथा वाणीका रस है बढता। औ' होता मधुर भाषण ॥ ६८ ॥

ऐसे प्रतिपादनमें वाद। कहता है मैं ही हूँ गोविंद।
औ' अक्षरोंमें जो विशद। वह अकार मैं हूँ ॥ ६९ ॥

वैसे समासमें अर्जुन। द्वंद्व समास मैं हूँ जान।
करता जो सर्व भक्षण। वह काल मैं हूँ ॥ २७० ॥

जिसमें मेरु मंदार सहित। पृथिवी भी हो जाती द्रवित।
उस एकार्णवको भी जो पार्थ। पचाता अपनेमें ॥ ७१ ॥

उस प्रलय तेजको भी ग्रासता। तथा महा अनिलको निगलता।
आकाशको भी अपनेमें समाता। धनंजय ॥ ७२ ॥

ऐसा है जो असीम काल। मैं हूँ कहता है गोपाल।
सृजता विश्व जो निर्मल। वह ब्रह्मा मैं हूँ ॥ ७३ ॥

मृत्युः सर्व हरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीवाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

तथा उत्पन्न भूतोंका धारण। सबका जीवन भी संपूर्ण।
अंतमें सबको देता मरण। वह भी मैं हूँ ॥ ७४ ॥

स्त्री जातिमें अर्जुन। सात मेरी है सुन।
कहता वह कौन। सकौतुक ॥ ७५ ॥

सुन नित्य नूतन कीर्ति। अर्जुन वह मेरी मूर्ति।
तथा स-औदार्य संपत्ति। मैं हूँ जान ॥ ७६ ॥

तथा वह है जो वाणी। न्याय सुखासन वासिनी।
औ' विवेक-पथ गामिनी। मेरा ही रूप ॥ ७७ ॥

सर्व नाशक मैं मृत्यु जन्म भी मैं भविष्यका।
वाणी श्री कीर्ति नारीमें क्षमा मेधा धृति स्मृति ॥ ३४ ॥

देख विश्वका पदार्थ । देता मेरा यथार्थ ।
ज्ञान जो है वह पार्थ । स्मृति मैं विशुद्ध ॥ ७८ ॥
स्वहितके अनुकूल । मेधा हूं मैं जो निर्मल ।
त्रिभुवन धृति-शील । तथा क्षमा मैं ॥ ७९ ॥
नारि जातिमें सात । शक्तियां हैं जो पार्थ ।
मैं हूं कही है बात । श्रीकृष्णने यह ॥ २८० ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

वेद-राशिमें बृहत्साम । मैं हूं सुन तू प्रियोत्तम ।
कहता है पुरुषोत्तम । धनंजयसे ॥ ८१ ॥
छंदमें गायत्री छंद । मेरा स्वरूप है विषद ।
जान यह अप्रमाद । अर्जुन तू ॥ ८२ ॥
मासोंमें जो मगसिर । जान यह धनुर्धर ।
ऋतुमें कुसुमाकर । वसंत मैं हूं ॥ ८३ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्वं सत्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

कपट कारस्थानमें द्यूत । मैं हूं जान यह पांडुसुत ।
तभी चौरस्तेका है प्रशस्त । चलता यह चौर्य ॥ ८४ ॥
तेजस्वियोंका तेज निश्चय । मैं ही हूं जान तू धनंजय ।
कार्योद्देश्यमें जो है विजय । वह भी मैं हूं ॥ ८५ ॥

गायत्री सब छंदोंमें मैं बृहत्साम साममें ।
मैं मार्गशीर्ष मासोंमें ऋतुओंमें वसंत मैं ॥ ३५ ॥
द्यूत मैं छलियोंमें हूं तेज तेजस्विका बना ।
सत्व मैं सात्विकोंमें हूँ जय मैं व्यवसायमें ॥ ३६ ॥
मैं वासुदेव वृष्णीमें पांडवोंमें धनंजय ।
मुनियोंमें मुनी व्यास कविमें उषना कवि ॥ ३७ ॥

उद्योगमें जो है धनंजय । उद्योगसे दीखता है न्याय ।
मेरा रूप वह यदुराय । कहता है ॥ ८६ ॥

सत्व है जो सत्वस्थमें । कृष्ण है यदुवंशमें ।
तथा श्री संपन्नतामें । मैं हूं जान ॥ ८७ ॥

वसुदेव देवकीसे मैं उत्पन्न । कुमारि स्थानमें गोकुल गमन ।
प्राणोसह चूस लिय मैंने स्तन । पूतनाके ॥ ८८ ॥

मिटा नहीं था अभी कौमार्य । किया अदानव सृष्टिकार्य ।
गिरिधर बन कूता आर्य । इंद्रकी महिमा ॥ ८९ ॥

मिटाया कालिंदी-हृदय शूल । बचा लिया ज्वाला ग्रस्त गोकुल ।
बनाया मैंने ब्रह्माको पागल । बछडे बनाके ॥ २९० ॥

होते ही बाल्यका प्रभात । कंसादि प्रचंड अत्यंत ।
मिटाये दुष्ट जो ज्वलंत । सहज लीलासे ॥ ९१ ॥

कहना मेरा कार्य कितना । तूने स्वयं देखा है अर्जुन ।
यादवोंमें श्रीकृष्ण जानना । मेरा रूप ॥ ९२ ॥

पांडव जो हैं सोम वंशस्थ । उनमें मैं अर्जुन हूं पार्थ ।
हमारा प्रेम भाव विश्वस्थ । कभी न टूटता ॥ ९३ ॥

नहीं तो विचार कर देख अर्जुन । संन्यासी हो चूराई तूने बहन ।
किंतु विकल्प न हुआ मेरा मन । क्यों कि हम एक हैं ॥ ९४ ॥

मुनियोंमें मैं व्यासराय । मैं कहता है यादवराय ।
तथा मैं हूं उषनाचार्य । कवीश्वरोंमें ॥ ९५ ॥

दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

चींटीसे ब्रह्मतक समान । चलता है जो सुनियमन ।
उसमें अनिवार्य शासन । मैं हूं पार्थ ॥ ९६ ॥

दंड़ मैं दमवंतोंमें धर्म मैं विजयार्थिका ।
ज्ञान हूँ ज्ञानियोंमें मैं गूढोंमें श्रेष्ठ मौन हूँ ॥ ३८ ॥

सारासार कर निर्णय । धर्म-ज्ञानका जो निश्चय ।
सभी शास्त्रोंमें धनंजय । मैं हूं नीति शास्त्र ॥ ९७ ॥
सब गुह्योंमें अर्जुन । मौन है अति महान ।
गूंगोंके सम्मुख जान । होता अज्ञानी ब्रह्म ॥ ९८ ॥
अजी ! मैं हूं ज्ञानियोंमें । श्रेष्ठ है जो जगतमें ।
ज्ञान जान तू इसमें । अंत नहीं पार्थ ॥ ९९ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान् मया भूतं चराचरं ॥ ३९ ॥

नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एषतूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

अजी ! पर्जन्यकी धार । गिनेगा क्या धनुर्धर ।
या पृथ्वीके तृणाँकुर । होंगे क्या गिनके ॥ ३०० ॥
लहरें क्या महा सागरकी । किसीने कभी क्या गिननेकी ।
मेरी अनंत विभूतियोंकी । कहूँ कैसा ॥ १ ॥
फिर भी पचत्तर प्रधान । विभूतियां तुझसे अर्जुन ।
ऊपर ऊपरकी तू जान । कहीं तुझसे ॥ २ ॥
मेरे विभूति-विस्तारका कहीं । आदि अंत यहां कुछ भी नहीं ।
तभी तू सुनेगा कितनी यहीं । और मैं कहूँगा कितनी ॥ ३ ॥
इसीलिये एक वाक्यमें तुझ । मर्म कहता हूँ अब मैं निज ।
तभी तू सब भूतांकुर-बीज । जान मुझको ही ॥ ४ ॥
तभी छोटा बडा न मानना । नीच उच्च भावको तजना ।
भूतमात्रमें मुझे देखना । सम भावसे ॥ ५ ॥

वैसे ही सब भूतोंका मुझको बीज जान तू ।
बिना मेरे नहीं कोई कहीं भी कुछ भी यहां ॥ ३९ ॥
नहीं अंत कभी आता मेरी दिव्य समृद्धिका ।
तो भी विभूति विस्तार मैंने जो अल्पमें कहा ॥ ४० ॥

इस पर भी साधारण। कर कहता सावधान।
सूचित करता अर्जुन। मेरी विभूति ॥ ६ ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

जहां जहां संपत्ति औ' दया। दोनो वसति हैं धनंजय।
वहां तू जान अति निश्चय। मेरी विभूति है ॥ ७ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

नभमें होता रवि-बिंब एक। त्रिभुवनका जो है प्रकाशक।
उसके आज्ञा-रत होते लोक। सकल हि सदैव ॥ ८ ॥

ऐसोंको अकेला नहीं कहना। साधन-हीन न मानना।
साथ होते हैं क्या सभी साधन। कामधेनुके कभी ॥ ९ ॥

उससे जब जो चाहता। तभी प्रसवती है माता।
वैसे अंगभूत रहता। विश्व भी उसके ॥ ३१० ॥

उनकी पहचानकी है संज्ञा। विश्व मानता उसकी आज्ञा।
ऐसे मनुष्यको जान तू प्राज्ञा। मेरा ही अवतार ॥ ११ ॥

अब है सामान्य विशेष। जानना यहां महा दोष।
क्यों कि मैं ही एक अशेष। विश्व है जान ॥ १२ ॥

तब क्यों बुरा भला कहना। स्व-मतिसे विभाग करना।
औ' अपनी मतिसे लगाना। कलंक मुझको ॥ १३ ॥

नहीं तो क्या घीका करते मंथन। अमृतको पकाके करें क्या न्यून।
वायुका होता क्या दायां बायां पन। कह तू मुझसे ॥ १४ ॥

विभूति-युक्त जो वस्तु लक्ष्मीवंत उदात्त वा।
मेरी ही किरणोंमेंसे निकली जान तू यह ॥ ४१ ॥

अथवा लाभ ही क्या है जान विस्तारसे तुझे।
एकांशमें विश्व सारा मुझसे है भरा रहा ॥ ४२ ॥

रविका होता क्या पेट पीठ। देखनेसे अंधी होगी दीठ।
ऐसी मेरी स्वरुप-गोष्ट। न वहां भला-बुरा ॥ १५ ॥
गिनेगा कितनी मेरी विभूति। अनगिनतकी क्या है गिनती।
जाने दें बातें हे सुभद्रापति। विभूतिकी आज ॥ १६ ॥

मेरा है एक ही जो अंश। विश्व व्यापता अशेष।
भेद छोड़ तू निःशेष। भज साम्य भावसे ॥ १७ ॥

ऐसा ज्ञानी-वन वसंत। विरक्त जनोंका एकांत।
बोला यह बात श्रीमंत। श्रीकृष्णचंद्र ॥ १८ ॥

अजी! देव-देवेश श्रीकृष्ण। कहता है सनम्र अर्जुन।
बोला तू अविवेक वचन। भेद त्यागका ॥ १९ ॥

अर्जुनका अद्वैतानुभव—

विश्वसे कहता है क्या भास्कर। आता मैं दूर करो अंधार।
कैसे कहूँ मेरा यह विचार। तू है अडवंग नाथ ॥ ३२० ॥

तेरा नाम भी किसी समय। सुनने मिला तो है तन्मय।
छोडकर भागेगा हृदय। भेदासुर तुरंत ॥ २१ ॥

ऐसा है परब्रह्म तू अभेद श्रेष्ठ। दान-सा मिला हो भाग्यका पराकाष्ठ।
तो भी देखता है क्या भेद कनिष्ठ। किससे औ' कहां ॥ २२ ॥

चंद्र-विंबके हृदयमें ठौर। 'तपन' कहता क्या यदु-श्रेष्ठ।
शोभा देता है क्या कह तू स्पष्ट। यह बड़ायी तेरी ॥ २३ ॥

श्री कृष्णका अर्जुन प्रेम—

सुन यह कृष्णने मन ही मन। कर लिया पार्थका प्रेमालिंगन।
इस बोलने पर न रुसना। कहता श्री हरि ॥ २४ ॥

भेद मार्गसे कही कहानी। विभूतियोंकी बडी सुहानी।
अभेदांतःकरणसे सुनी। तुझे जंची या नहीं ॥ २५ ॥

देखनेके लिये मैंने इसीको। कही बाह्य व्यवहारी बातको।
जाना तूने विभूति विस्तारको। भली भांति ॥ २६ ॥
अर्जुन कहता देवदेवेश। तू ही जाने तेरा वह विशेष।
किंतु मैं देखता विश्व अशेष। तुझसे भरा हुआ ॥ २७ ॥

यह सुन कर अंधा धृतराष्ट्र अंतःकरणसे भी अंधा ही रहा—

राजन् कहता है यहां अर्जुन। वह अद्वयानुभव वरण।
संजयका शब्द कर श्रवण। स्तब्द है धृतराष्ट्र॥ २८॥

संजयका दुखी अंतःकरण। जैसे हैं इसके बाह्य नयन।
वैसे ही अंधा है अंतःकरण। कहता संजय॥ २९॥

किंतु वहां वह अर्जुन। बढाता है स्वहित मान।
दूसरा जागृत महान। संकल्प एक॥ ३३०॥

सोचता यह हृदयानुभव। बना लेना है नयनका भाव।
बुद्धिमें हुआ इच्छाका उद्भव। सहज भावसे॥ ३१॥

मेरे यही दोनों नयन। करें विश्व-रूप दर्शन।
लालसा हुई दैववान। सहज भावसे॥ ३२॥

आज वह है कल्पतरुकी शाख। उसकी इच्छा व्यर्थ न होती देख।
जो जो कहेगा आज उसका मुख। सिद्ध करेगा दैव॥ ३३॥

सुन कर प्रल्हादका बोल। प्रसन्न हुआ वन सकल।
वह सद्गुरु मिला कुशल। अर्जुनको॥ ३४॥

विश्वरूप दर्शनार्थ वैसे। पूछेगा अर्जुन श्रीकृष्णसे।
कहूँगा कहता श्रोताओंसे। निवृत्तिदास ज्ञानदेव॥ ३३५॥

गीता श्लोक ४२

ज्ञानेश्वरी ओवी ३३५.

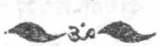

११

विश्व-रूप-दर्शनयोग

यह अध्याय शांत अद्‌भुत रसोंका प्रयागराज है—

एकादश है इसके अनंतर। कथा भरी है दो रसोंका भंडार।
वहां दर्शन करेगा धनुर्धर। विश्व-रूपका ॥ १ ॥

जहां शांत-रसके सदन। अद्‌भुत आया अतिथि बन।
मिला पंगतका बहुमान। अन्य रसोंको ॥ २ ॥

होता जब वधु-वरोंका मिलन। तब होता बरातियोंका सन्मान।
वैसे मिला है देशीका सिंहासन। अन्य रसोंको भी ॥ ३ ॥

किंतु उत्तम जो शांत अद्‌भुत। जंचेंगे आखोंको कर तृप्त।
जैसे हैं प्रेम-भावालिंगित। हरिहर दोनों ॥ ४ ॥

अथवा जैसे अमावासके दिन। करते हैं दोनों बिंब आलिंगन।
वैसे दोनों रसोंका सम्मेलन। हुआ इस स्थलमें ॥ ५ ॥

मिले हैं गंगा-यमुनाके ओघ। वैसे रसोंका हुआ है प्रयाग।
इसीलिये यहां सुस्नात जग। संपूर्ण-रूपसे ॥ ६ ॥

इसमें गीता-सरस्वती गुप्त। तथा ये दोनों रस-ओघ मूर्त।
इसीलिये त्रिवेणी है उचित। सबको प्राप्त है ॥ ७ ॥

सबको त्रिवेणी-स्नान सुलभ हो इसलिये देश-भाषाका घाट बांधा है—

अजी ! यहां श्रवणके द्वारसे । तीर्थमें प्रवेश सुलभ हो ऐसे ।
करवाया है श्री गुरुने मुझसे । कहता ज्ञानदेव ॥ ८ ॥

अजी ! संस्कृतका तीर है गहन । उसको देशीके ये शब्द सोपान ।
निर्माण कराये हैं धर्म-निधान । निवृत्तिनाथने ॥ ९ ॥

यहां करना सबको सद्भाव-स्नान । प्रयाग-माधव विश्व-रूप-दर्शन ।
तथा करना यहां संसार-तर्पण । तिलोदकका ॥ १० ॥

ऐसे हैं यह सावयव । स्वरूप लाये रस-भाव ।
औ' श्रवण-सुखका चाव । मिला विश्वको ॥ ११ ॥

यहां प्रत्यक्ष शांत-अद्भुत । अन्य रसोंको शोभा प्राप्त ।
साथ ही हुआ है मोक्ष-प्राप्त । स्पष्ट रूपसे ॥ १२ ॥

यह ग्यारहवां अध्याय है । देवोंका जो विश्राम-धाम है ।
सुदैवियोंमें पार्थ श्रेष्ठ है । पहुंचा जो वहां ॥ १३ ॥

पार्थ वहां पहुंचा भला क्यों अकेला । जिसे भाता है उसका हुवा सुकाल ।
गीता-भाव उभरा देशीमें सकल । इसी समय ॥ १४ ॥

संत जनोंसे कविकी विनय —

मेरी बात यह इसीलिये । विनय करता सुन-लीजिये ।
जरासा ध्यानसे चित्त दीजिये । आप सज्जन ॥ १५ ॥

अजी ! यह है संतोंकी परिषद । ऐसा लगाव यहां अ-शोभास्पद ।
किंतु आपत्य बन आनंद-स्पंद । कहता मैं यह ॥ १६ ॥

आप ही पहले तोतेको पढाते । वह बोलता तब आप डुलते ।
या बच्चेसे नकल करा रीझते । माता पिता जैसे ॥ १७ ॥

वैसे जो जो कुछ मैं बोलता । प्रभु आपने ही सिखाया था ।
जो आपने ही जो है दिया था । सुनिये चित्त देकर ॥ १८ ॥

अजी ! गाछ है यह सारस्वतका । आपने ही जो लगाया था उसका ।
सिंचन कर अवधानामृतका । बढाया कीजिये ॥ १९ ॥

रस-भाव तब पुष्प-सा खिलेगा । नाना अर्थ फल-भारसे फलेगा ।
आपके ही धर्मका सुकाल होगा । सारे जगतमें ॥ २० ॥

इस बातसे रीझ उठे सब संत । "भला कहा" कह कर हो प्रमुदित ।
अब कहो कृष्णार्जुनमें क्या बात । हुयी जो वहां ॥ २१ ॥

तब निवृत्तिदास कहता । कृष्णार्जुनकी मैं क्या जानता ।
सामान्य क्या मैं कह सकता । कहलाते सब आप ॥ २२ ॥

अजी ! जंगलका जो पात खाते । रावण पर वे विजय पाते ।
पार्थ अक्षोहिणी सैन्य जीतते । अकेले ही ॥ २३ ॥

तभी जो जो करते हैं समर्थ । चराचरमें होता वह सार्थ ।
मुझसे कहलाते हैं तदर्थ । संत जन आप ॥ २४ ॥

सुनिये अब यह बोल । गीता भावार्थके निर्मल ।
वैकुंठ-पतिके सरल । निकला मुखसे ॥ २५ ॥

धन्य धन्य वह ग्रंथ गीता । वेद-प्रतिपाद्य जो देवता ।
बना है श्रीकृष्ण महा-वक्ता । इस ग्रंथका ॥ २६ ॥

कैसे करें उस गौरवका वर्णन । न होता शिव-बुद्धिको भी आकलन ।
जीव-भावसे करना उसे वंदन । यही भला है ॥ २७ ॥

बुद्धिने जो स्वीकार किया उसको आंखोंसे देखनेकी इच्छा-अर्जुनका संकोच-

सुनिये अब वह किरीटी । विश्व-रूपपे रख दृष्टि ।
करने लगा है कैसे गोष्टि । श्रीकृष्णसे ॥ २८ ॥

सकल ही है यह सर्वेश्वर । अनुभव है यह रुचिकर ।
होना यह नयनसे गोचर । प्रत्यक्ष रूपमें ॥ २९ ॥

आशा है यह अंतःकरणकी । विवंचना है कैसे कहनेकी ।
विश्व-रूपके महा-गुपितकी । अर्जुनको यहां ॥ ३० ॥

सोचता पीछे कभी कहीं । प्रिय-जनने पूछा नहीं ।
सहसा मैं इनको यहीं । पूछूं कैसे ? ॥ ३१ ॥

यद्यपि है हमारा स्नेह चांग । तो क्या लक्ष्मी मातासे अंतरंग ।
वह भी डरती ऐसा प्रसंग । पूछनेमें ॥ ३२ ॥

हमने सेवा की है बहुत नेक । किंतु क्या गरुड़से भी अधिक।
इसमें वह भी न पूछता एक । चुपचाप बैठा है ॥ ३३ ॥

मैं क्या सनकादिकसे अधिक। वे भी झमेला करते न देख ।
मैं हूँ क्या गोपियोंसे भी भावुक । प्रिय-जन उन्हे ? ॥ ३४॥

उन प्रिय-जनोंको भी छकाया । दस गर्भ वास भी सहन किया ।
विश्व-रूप नहीं दिखाया । किसीको भी ॥ ३५ ॥

ऐसी यह गुपित बात । छिपायी जो हृदय-गत ।
पूछना क्या मुझे उचित । क्या कैसे ॥ ३६ ॥

यदि मैं यह प्रश्न नहीं पूछता । उसके बिन सुख नहीं मिलता ।
जान लेना भी संभव नहीं होता । यह बात कभी ॥ ३७ ॥

श्री कृष्णका भक्त-प्रेम—

पूछें अब अल्पसी बात । फिर देखें हरिका मत ।
सोचकर हो भीति-युक्त । पूछता अर्जुन ॥ ३८ ॥

तब अर्जुनका यह भाव । सुन एक दो शब्दमें देव ।
दिखाता विश्व-रूप-वैभव । पूर्ण-रूपसे ॥ ३९ ॥

गाय जो बछडेको देखकर । ऊठ जाती है हडबडाकर ।
मुखमें ले स्तन चूसने पर । न स्रवेगी क्या दूध ? ॥ ४० ॥

जहां आता है पांडवोंका नाम । रक्षार्थ दौडना जिसका काम ।
पूछना अर्जुनका सप्रेम । सहेगा कैसे ? ॥ ४१ ॥

श्रीकृष्ण सहज प्रेमावतरण । अर्जुन प्रेम-नशाको उत्तेजन ।
समरस होनेमें यहां अभिन्न । भिन्नता भान विस्मय ॥ ४२ ॥

अर्जुनके बोलनेसे अब महज । कृष्ण विश्व-रूप दिखायेग सहज ।
ऐसा अद्‌भुत प्रसंग आया है आज । सुनियोगा ॥ ४३ ॥

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

प्रभो तूने अपने हृदयका दर्शन दिया और —

कृष्णसे फिर कहता अर्जुन। श्रीकृष्ण तूने मेरे ही कारण।
वाच्य किया था जो गुह्य कथन। कृपा करके ॥ ४४ ॥

महाभूत जब ब्रह्ममें विलीन। जीव महदादि भी होते हैं लीन।
अंतिम वह जो है विश्रांति-स्थान। आपका रूप ॥ ४५ ॥

अंतःकरणके वह भीतर। रखा था वेदोंसे भी छिपाकर।
कहता है कृष्णसे धनुर्धर। कृपणके भांति ॥ ४६ ॥

वह तूने आज श्री नारायण। दिया है मुझे हृदय-दर्शन।
उसपे शिवने अध्यात्म-ध्यान। किया न्योच्छावर ॥ ४७ ॥

ऐसी वस्तु तूने मुझे दी है। क्षण भी विलंब न किया है।
यदि हम ऐसे कहते हैं। तो मैं भिन्न हूं क्या ? ॥ ४८ ॥

भंवरमें मैं महा-मोहके। डुबा था शिखा तक देखके।
श्रीहरि तूने स्वयं कूदके। उभार लिया मुझे ॥ ४९ ॥

तुझ एक बिना देव कभी कहीं। विश्वमें अन्य वस्तुका नाम नहीं।
किंतु देख यहां दुर्दैव है यही। मानते "हम हैं" भिन्न ॥ ५० ॥

विश्वमें मैं कोयी एक अर्जुन। धर ऐसा देहका अभिमान।
तथा कौरवको यहां स्वजन। कहता था मैं ॥ ५१ ॥

इस पर भी मैं इन्हें मारूंगा। इसका पाप-भोगी भी बनूंगा।
ऐसे दुःस्वप्न रत मुझे जगा-। दिया तूने कृष्ण ॥ ५२ ॥

अर्जुनने कहा

करके करुणा मेरी कहा तूने रहस्य जो।
उस अध्यात्म विद्यासे मेरा जो मोह था गया ॥ १ ॥

गंधर्व-नगरकी बसती । छोड़ निकला मैं लक्ष्मी-पति ।
प्याससे पानीका था मैं प्रार्थी । औ' पीता था मृगजल ॥ ५३ ॥

अजी ! वस्त्रके सर्प-दंशसे । चढती विष-लहरियोंसे ।
त्रस्त जीवको मृत्यु-भयसे । उभार लिया देव ॥ ५४ ॥

अपना प्रतिबिंब न जानकर । कूपमें कूदना सिंह देखकर ।
उसको बचा लिया पकड़कर । मेरी रक्षा की ऐसी ॥ ५५ ॥

मुझपर अपार कृपा करके मेरी रक्षा की – अब—

नहीं तो मेरा यहां तक । निश्चय हुवा था तू देख ।
सप्त-सागर हुये एक । मिलकर ॥ ५६ ॥

या डूबने दो युग संपूर्ण । या टूटने दो यह गगन ।
लडेगा नहीं कभी अर्जुन । स्व-गोत्रजोंसे ॥ ५७ ॥

ऐसी अहंकार-उर्मियोंमें उन्मत्त । आग्रह जलमें डूबा था मैं अनंत ।
उठा लिया है तूने हो स्नेहार्द्र-चित्त । कौन था अन्य मेरा ॥ ५८ ॥

नहीं था वह एक-मात्र अर्जुन । वैसे दूसरेको नाम दे स्वजन ।
सवार हुवा ऐसा पागलपन । तूने बचा लिया देव ! ॥ ५९ ॥

पहले होना था जब हमारा दहन । भय था तब देह जल जानेका सुन ।
अब चैतन्य सह होना था दहन । बचा लिया तूने दोनो बार ॥ ६० ॥

हिरण्यासुर दुराग्रहमें भरकर । मेरी बुद्धि-भूको बगलमें दबाकर ।
मोहार्णव-सिंधुके गवाक्षसे अंदर । जा बैठा था ॥ ६१ ॥

तेरे ही बलसे मधुसूदन । विवेकने ले लिया है स्व-स्थान ।
वराहका पुनरावतरण । लेना पडा यह ॥ ६२ ॥

अपार कृपा है तेरी मुझ पर । एक वाचासे ही बोलूं क्यों कर ।
पंच-प्राण किये तूने न्योच्छावर । मुझपर देव ॥ ६३ ॥

कुछ भी वह व्यर्थ नहीं गया । उसमें संपूर्ण यश भी आया ।
देव ! मैं साद्यंत रूपसे माया- । रहित हुवा जी ॥ ६४ ॥

आनंद सरोवरके कमल । वैसे हैं तेरे नयन निर्मल ।
अपने प्रसादके हैं महल । बना लेते हैं ॥ ६५ ॥

उसका तथा मोहका मिलन । है यह व्यर्थ-बातका कथन ।
मृगजलसे होगा क्या शमन । वडवानलका ॥ ६६ ॥

तथा जो मैं हूं तब श्रीकृष्ण । पाके कृपाका अंतःकरण ।
करता हूं सानंद भोजन । ब्रह्म-रसका ॥ ६७ ॥

इससे हुवा मेरा मोह निवारण । इसमें क्या भला विस्मयका कारण ।
इससे हुवा मेरा उद्धार श्रीकृष्ण । तेरे चरणोंकी सौगंध ॥ ६८ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

अर्जुनकी आंतरिक द्विविधा—

अजी ! हे कमल-नयन । कोटि-सूर्य-तेज वदन ।
मैंने तुझसे जनार्दन । सुना है आज ॥ ६९ ॥

प्रकृतिसे उत्पन्न भूत-जात । वैसे प्रकृतिमें उसका अंत ।
कैसा होता है जो प्राकृत । कहा है देवने ॥ ७० ॥

प्रकृतिका दिया संपूर्ण-ज्ञान । बताया ब्रह्मका वसति-स्थान ।
जिसको ओढ करके महान । हुए हैं वेद ॥ ७१ ॥

ज्ञान-राशीको जो बढाता । धर्म-रत्नोंको प्रसवता ।
वेद है आश्रय करता । तेरे स्वरूपका ॥ ७२ ॥

ऐसा अगाध है महात्म्य । जो सकल-मार्गैक्य-गम्य ।
तथा है स्वानुभव रम्य । दिखाया मुझे ॥ ७३ ॥

हठाकरके सब बादल । दिखाते जैसे सूर्य-मंडल ।
सेवार हठाकर निर्मल । जल दिखाते हैं ॥ ७४ ॥

छुडानेसे सांपकी जकडन । होता जैसे चंदन-दर्शन ।
या करनेसे पिशाचोच्चाटन । मिलती भूमिस्थ निधि ॥ ७५ ॥

उत्पत्ति नाश भूतोंका सुना मैंने सविस्तर ।
अभंग महिमा वैसे तेरे ही मुखसे प्रभु ॥ २ ॥

वैसे थी प्रकृतिकी अडचन। हठाया तूने उसे जनार्दन।
पर-तत्वमें की है फिर लीन। बुद्धि मेरी ॥ ७६ ॥

इस विषयमें मेरा देव। हुवा संदेह रहित जीव।
किंतु और एक संकल्प-भाव। हुआ उत्पन्न ॥ ७७ ॥

रहने दिया इसे संकोचकर। किससे पूछें कहो चक्रधर।
तेरे बिना नहीं अन्य आधार। जानता मैं ॥ ७८ ॥

जलचर माने जलका आभार। या बालक स्तन्यका संकोच कर।
जीनेका वह दूसरा क्या आधार। ढूंढेगा देव ! ॥ ७९ ॥

तो संकोच नहीं करना। मनकी जो बात कहना।
कहे तब कृष्ण अर्जुन। कह तू चाह ॥ ८० ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

स-संकोच विश्व-रूप दर्शनकी प्रार्थना —

तब कहता किरीटी। कही थी तूने जो गोष्टि।
उससे प्रतीति दृष्टि। शांत हुई मेरी ॥ ८१ ॥

संकल्प जहांसे है निकलता। लोक-क्रमका उदयास्त होता।
जिस स्थानको है तू मैं कहता। जनार्दन ॥ ८२ ॥

वह वास्तविक रूप है तेरा। जहांसे आता तू ले अवतार।
सुर-कार्यार्थ तू है चक्रधर। द्विभुज या जतुर्भुज हो ॥ ८३ ॥

क्षीर-शयनाभिनय समाप्त कर। मत्स्य-कूर्मका अलंकार छोड़कर।
लीला-साधन सबको तू छिपाकर। रखता लपेटके ॥ ८४ ॥

उपनिषद् करते गायन। योगी-जन हृदयमें दरशन।
सनकादिक नित आलिंगन। करते जिसके ॥ ८५ ॥

तेरा जो ईश्वरी रूप मानता हूँ यतार्थ है।
वही मैं देखना चाहूँ प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

ऐसा तेरा असीम जनार्दन । विश्व-रूप कथा सुनके मन ।
देखना चाहते वही नयन । प्यासे होकर ॥ ८६ ॥

मेरा संकोच करके दूर । स-स्नेह पूछी चाह श्रीधर ।
यही एक चाह चक्रधर । पूर्ण करना ॥ ८७ ॥

तेरा विश्व-रूप संपूर्ण । देखना चाहता स-तृष्ण ।
होकर तन-मन प्राण । एकमात्र ॥ ८८ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

और एक बात केशव । विश्व-रूप दर्शनास्तव ।
मेरी योग्यता है वास्तव । या नहीं है ॥ ८९ ॥

यह मैं आप नहीं जानता । यह क्यों है यदि तू पूछता ।
अपने रोगका क्या जानता । निदान रोगी ? ॥ ९० ॥

अजी ! होती जब इच्छाकी तीव्रता । भूलते हैं तब अपनी योग्यता ।
प्यासा मनुष्य है सदैव मानता । अपर्याप्त समुद्र ॥ ९१ ॥

इच्छाकी है ऐसी जो तीव्रता । भुला देती है मेरी योग्यता ।
जानती किंतु शिशुको माता । सहज-भावसे ॥ ९२ ॥

वैसा तू भक्त जन रंजन । जानता है मेरी संभावना ।
फिर तू विश्व-रूप दर्शन । देगा हो सदय ॥ ९३ ॥

किंतु मेरी योग्यतानुसार । ना हो तो ना कह कृपाकर ।
गाके लाभ क्या पंचम स्वर । बहरेके सम्मुख ॥ ९४ ॥

एक प्यासेकेलिये वर्षा होती । उससे पृथ्वीकी प्यास बुझती ।
किंतु वही चट्टान पर होती । व्यर्थ जाती है ॥ ९५ ॥

चकोरको चंद्रामृत मिलता । अन्योंको क्या इनकार करता ।
किंतु दृष्टि न होनेसे होता । व्यर्थ ही सब ॥ ९६ ॥

यदि तू मानता शक्य तेरा जो रूप देखना ।
तभी योगेश्वर देव दिखावो वह अव्यय ॥ ४ ॥

अजी ! तू विश्व-रूप यह सहसा । दिखायेगा इस बातका भरासा ।
ऐसी बातोंमें उदार अपना-सा । नित्य-नूतन तू ॥ ९७ ॥

परमत्माकी असमान्य उदारताका वर्णन—

तेरी उदारता है जो स्वतंत्र । न देखती देनेमें पात्रापात्र ।
कैवल्य-सा वर अति-पवित्र । दिया शत्रुओंको भी ॥ ९८ ॥

अजी ! मोक्ष है जो अति दुराराध्य । तेरे चरण हैं उसका आराध्य ।
होता है वह तेरी बातसे साध्य । सेवकके समान ॥ ९९ ॥

तूने सनकादिकके समान । पूतनाको दिया सायुज्यासन ।
कराके जो विषका स्तन-पान । मारने आयी थी ॥ १०० ॥

राजसूय सभा-सदनमें । त्रिभुवन जन-सम्मुखमें ।
जिसने शत दु-र्वचनमें । डुबोया तुझे ॥ १ ॥

ऐसा अपराधी जो शिशुपाल । पाता है तेरे चरणमें स्थल ।
या उत्थानपादका ध्रुवबाल । चाहता था क्या मोक्ष ॥ २ ॥

ध्रुवबाल आया था वनमें । बैठना है पिताकी गोदमें ।
उसको किया तूने जगतमें । सूर्य-चंद्रसे ऊंचा ॥ ३ ॥

ऐसे वनवासियोंको सकल । देनेवाला एक है तू धसाल ।
पुत्रको पुकारता अजामिल । किया चिद्रूप ॥ ४ ॥

जिसने मारी लात तेरी छाती पर । उसका पद-चिन्ह किया अलंकार ।
अब-तक है शत्रुका ही कलेवर । भूषण बना करमें ॥ ५ ॥

अपकारी पर भी तेरा उपकार । अपात्रों पर भी तू है अति उदार ।
द्वारपाल बना तू दान मांगकर । बलिके घरका ॥ ६ ॥

न सुनी जिसने आराधना । रिझाती थी जो तोता अपना ।
उस गणिकाको जनार्दन । तूने दिया वैकुंठ ॥ ७ ॥

दिखा कर ऐसे व्यर्थके कारण । निज-पद देता तू नारायण ।
न करेगा तू मुझे ऐसा श्रीकृष्ण । कभी निराश ॥ ८ ॥

जिससे इतने जगत सकल । पाता है शांति तुष्टि पुष्टि औ' बल ।
उस नंदिनीका बछडा व्याकुल । होगा क्या भूखसे ॥ ९ ॥

इसीलिये मैंने कही पीछे जो बात । देव न करेंगे अस्वीकार निश्चित ।
उसकी योग्यता देना मुझे अच्युत । यह है विनय ॥ ११० ॥
तेरे विश्व-रूपका आकलन । कर सकेंगे तो मेरे नयन ।
प्यास बुझावो हे जनार्दन । इन नयनोंकी ॥ ११ ॥

श्री कृष्णकी भक्त-वत्सलता—

करता है जब ऐसी विनती । लीन हो करके सुभद्रापति ।
तब वह षड्गुण-चक्रवर्ति । होता है उतावला ॥ १२ ॥
वह है कृपा-पीयूष सजल । पास आया है यहां वर्षा-काल ।
अथवा है श्रीकृष्ण कोकिल । अर्जुन वसंत ॥ १३ ॥
देखकर जैसे चंद्र-बिंब वर्तुल । उछल आता है क्षीर-सागर-जल ।
वैसे प्रेम-बलसे हृदय-कमल । खिला श्री हरिका ॥ १४ ॥
प्रसन्नताके उस उमंगसे । गरज कर कहता कृपासे ।
पार्थ तू देख देख आनंदसे । स्वरूप मेरा ॥ १५ ॥
केवल विश्व-रूपको देखना । इतनी थी पार्थकी मनो-कामना ।
यहां विश्व रूपमय त्रिभुवन । किया श्री हरिने ॥ १६ ॥
धन्य-धन्य उदार अपरिमित । याचकको देता देव दिन-रात ।
चाहता जो उससे अनगिनत । अपना सर्वस्व ॥ १७ ॥
शेषसे भी जो था चुराया । वेदोंको जिससे छकाया ।
लक्ष्मीसे भी जो था छिपाया । वह हृदय-गुह्य ॥ १८ ॥
प्रकट करेंगे अनेक दर्शन । बनायेंगे विश्व-रूप प्रदर्शन ।
भाग्यशाली है यह बडा अर्जुन । धन्य धन्य ॥ १९ ॥
स्वप्नमें जाता जैसे मनुष्य जागृत । स्वप्नमें बनता है स्वयं वस्तु जात ।
वैसे स्वयं बना विराट्-विश्व अनंत । अपने आपमें ॥ १२० ॥
यकायक वह मुद्रा छोडी । स्थूल-दृष्टि थी यवनिका जो फाडी ।
अथवा खोलकर दिखायी बडी । अपनी योग-सिद्धि ॥ २१ ॥
किंतु यह देखेगा या नहीं । ऐसा विचार कुछ भी नहीं ।
किया और देख कहना है यही । हो स्नेहातुर ॥ २२ ॥

भगवान उवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

विश्व-रूपके प्रत्येक रोम-कूपकी जड़में एक सृष्टिका दर्शन, स्वभाव-विविधता—

तूने कहा अर्जुन दिखावो एक। उसीको दिखाया तो क्या रहा नेक।
यहां भरा है जो सभी अब देख। मेरे ही रूपमें ॥ २३ ॥

एक कृष तो एक स्थूल। एक लघु एक विशाल।
पृथुतर तथा विशाल। अमर्याद सब ॥ २४ ॥

एक अनावर तो एक प्रांजल। कुछ स-व्यापार तो कुछ निश्चल।
कुछ उदासीन तो कुछ स्नेहल। कुछ हैं कठोर ॥ २५ ॥

कुछ उन्मन कुछ सावध। कुछ उथल कुछ अगाध।
कुछ प्रसन्न तो कुछ क्रुद्ध। तथा मुक्त संकुचित ॥ २६ ॥

कुछ संत कुछ सदा-मद। कुछ स्तब्ध कुछ सानंद।
गर्जन रत कुछ निःशब्द। तथा सौम्य भी ॥ २७ ॥

अभिलाषा-युत कुछ विरक्त। कुछ जागृत कुछ निद्रित।
कुछ संतुष्ट कुछ है आर्त। अति उदार कुछ ॥ २८ ॥

कुछ अशस्त्र तो कुछ सशस्त्र। तथा अति रौद्र औ' अति-मित्र।
कुछ तम-युत कुछ पवित्र। कुछ है समाधिस्थ ॥ २९ ॥

कयी जन लीला-विलास। औ' पालन-शील-लालस।
संहारक कुछ सावेश। कुछ है साक्षि-भूत ॥ १३० ॥

नाना विध जो प्रकर्ष ऐसे। प्रकाशित जो दिव्य-तेजसे।
वर्णमें भी जो एक एक-से। नहीं थे कोयी ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानने कहा

देखो मेरे सभी रूप दिव्य शत सहस्र तू।
नाना प्रकार आकार वर्ण भी जिसमें बहु ॥ ५ ॥

विश्व-रूपके प्रत्येक रोम-कूपमें वर्ण-विविधता—

कुछ तो तप्त सुवर्णसे । कुछ भूरे मट-मैलेसे ।
कुछ सराग चित्रितसे । सिंधुसे नभ ॥ ३२ ॥

कुछ जो सहज स्वाभाविक कांतिके । कुछ रत्न-जडित ब्रह्मांड दीप्तिके ।
कुछ तो अरुणोदय-प्रभा सरीखे । कुंकुमके समान ॥ ३३ ॥

कुछ शुद्ध स्फटिकोज्वल । कुछ इंद्र-नील सुनील ।
कुछ काले अंजनाचल । कुछ रक्त-वर्ण ॥ ३४ ॥

कुछ लसित-कंचनसे पीले । कुछ शामल बादलसे नीले ।
कुछ चंपक-गौर सम पीले । कुछ श्वेत हरे ॥ ३५ ॥

कुछ लाल तप्त-ताम्र सम । कुछ सुंदर जो चंद्र-सम ।
नाना वर्णके रूप असीम । देख लो भरे ॥ ३६ ॥

जैसे हैं ये अनेक वर्ण । रूपमें भी नहीं प्रमाण ।
लज्जासे कंदर्प-शरण । रूप होंगे देख ॥ ३७ ॥

विश्व-रूपके प्रत्येक रोम-कूपमें रूप विविधता—

कुछ अति लावण्य साकार । स्निग्ध-तन कुछ मनोहर ।
कुछ श्रंगार-श्रीके-भांडार । खुला प्रदर्शनार्थ ॥ ३८ ॥

कुछ पीनावयव मांसल । कुछ शुष्क अति-विकराल ।
कुछ दीर्घ-कंठ और शिथिल । कुछ अति घिनौने ॥ ३९ ॥

ऐसे नाना-विध वर्ण आकृति । पार नहीं यहां सुभद्रा-पति ।
यहां प्रत्येक अंगकी आकृति । दिखाती विश्व ॥ १४० ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

वसु रुद्र तथा वायु देखो आदित्य अश्विनी ।
देखो अनेक आश्चर्य न देखे पहले कभी ॥ ६ ॥

विश्वरूपमें अनेक देवताओंका दर्शन—

चलती है जहां दृष्टि । फैलती है आदित्य-सृष्टि ।
मिटती है जहां दृष्टि । होता अस्त ॥ ४१ ॥

मुखसे निकला हुवा फूत्कार । लेकरके ज्वालाओंका आकार ।
पावक आदि वसु समाधार । निर्माण करते ॥ ४२ ॥

जहां भ्रू-लताओंका अवसान । क्रोधसे होता रहता मिलन ।
वहां रुद्रोंके समूह उत्पन्न । होते हैं देख ॥ ४३ ॥

सौम्य आर्द्रतामें यहां सदैव । निर्माण होते हैं अश्विनी देव ।
तथा श्रोत्रोंमें होते हैं पांडव । वायू अनेक ॥ ४४ ॥

एकेक रूपके ऐसे खेल । सृजते सुर-सिद्धके कुल ।
ऐसे अपार तथा विशाल । देखो वहां रूप ॥ ४५ ॥

जिसको कहनेमें वेद तुतलाता । देखनेमें कालका आयुष्य खूटता ।
विधाताको भी उसका नहीं लगता । ठौर ठिकान ॥ ४६ ॥

तीनों देवोंने न सुनी एक । उसको तू प्रत्यक्षमें देख ।
भोग जो अचरज अनेक । योग-वैभव महा ॥ ४७ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

इस आकृतिके तू किरिटी । रोम-मूलमें है देख सृष्टि ।
सुर-तरुके तलकी मिट्टी । सृजती तृणांकुर ॥ ४८ ॥

तथा पवनका प्रकाश जैसे । दिखाता उड़ते परमाणु-से ।
भ्रमते यहां ब्रह्मांड भी वैसे । अंगके सांधोंमें ॥ ४९ ॥

यहांका प्रत्येक अवयव । दिखाता है सविस्तर विश्व ।
औ' विश्वके पार भी पांडव । देखना चाहो ॥ १५० ॥

देखो अब यहां सारा विश्व तू सचराचर ।
एकत्र देहमें मेरे इच्छा दर्शन है तुझे ॥ ७ ॥

किसी भी बातकी अपूर्णता। कोई नहीं है यहां सर्वथा।
देख सुखसे जो तुझे भाता। मेरे तनमें तू ॥ ५१ ॥

विश्व-मूर्ति उससे ऐसे। बोली जो अति कारुण्यसे।
तो दीखता या नहीं ऐसे। न कहता रहा मौन ॥ ५२ ॥

रहा क्यों भला यह ऐसा मौन। सोचकर देखता यह जनार्दन।
तब भी इच्छा-भूषित अर्जुन। खडा है उत्कंठित ॥ ५३ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामिते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

उतरा नहीं है उत्कंठोन्माद। न मिला अब भी स्वर्ग सुखद।
आकलन नहीं होता विशद। मेरा रूप ॥ ५४ ॥

अर्जुनको विश्व-रूप देखनेके लिये दिव्य-दृष्टि दी—

हंसा देव यह सोचकर। कहने लगा जो हंसकर।
"हमने दिखाया रूप पर। तू देखता ही नहीं" ॥ ५५ ॥

बोला तब अर्जुन विलक्षण। यह किसके दोषके कारण।
बगलेको देता है सुलक्षण। चंद्रामृत तू ॥ ५६ ॥

दिखाता सुंदर दर्पण। जन्मांधको तू है श्रीकृष्ण।
सुनाता तू मधुर बीन। बहरेको जो ॥ ५७ ॥

मकरंद-कणोंका चारा। कहता है तू दादुरसे चर।
व्यर्थ मानकर क्यों शार्ंगधर। बिगडता अब ॥ ५८ ॥

शास्त्रोंसे यह अतींद्रिय घोषित। ज्ञान-दृष्टिका जो विषय निश्चित।
कहता इसे देखेंगे कैसे पार्थ। चर्म-चक्षु ॥ ५९ ॥

यह मेरा व्यंग नहीं बोलना। मुझे अपना सहन करना।
यह सुन कहता जनार्दन। सच है यह ॥ १६० ॥

किंतु तू चर्म-चक्षूसे न देख सकता मुझे।
ले दिव्य दृष्टि है मेरी ईश्वरी योग देख तू ॥ ८ ॥

यह स्वरूप यदि दिखाना होता । दी होती पहले ही यह योग्यता ।
बोलनेमें मैं प्रेमसे स्वभावता । भूल गया हूं ॥ ६१ ॥

पहले जुताईके बुवाईसे । थकावट भई व्यर्थ इससे ।
अब देता दिव्य-दृष्टि इससे । देखो निज-रूप ॥ ६२ ॥

इस दृष्टिसे फिर तू अर्जुन । हमारा ऐश्वर्य-योग संपूर्ण ।
देखके उसे करो संगोपन । अपने अनुभवमें ॥ ६३ ॥

ऐसा वह वेदांत-वेद्य । सकल लोकका जो आद्य ।
जगताका जो है आराध्य । कहने लगा ॥ ६४ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अर्जुनका महा-भाग्य–

सुन तू कौरव-कुल-तिलक । विस्मय है मुझे इसी बातका ।
है क्या लक्ष्मीसे भुवनत्रयका । दूसरा भाग्यवान ॥ ६५ ॥

अथवा तत्व-विवेचनार्थ । है क्या कोयी वेदसे समर्थ ।
सेवामें शेषसे भी विश्वस्थ । दूसरा कौन है ? ॥ ६६ ॥

उसके लिये ऐसे कष्ट सहन । करते हैं जो योगियोंके समान ।
अनुसरणमें बना है वाहन । गरुड सतत ॥ ६७ ॥

उन सबको है परे हठाया । जबसे पांडवोंका जन्म भया ।
कृष्ण-सुख सब सहज आया । इनके भागमें ॥ ६८ ॥

इन पांचोंमें भी जो अर्जुन । कृष्ण जैसे उसके आधीन ।
कामुक होता है अनुदिन । कामिनी-संग ॥ ६९ ॥

संजयने कहा

ऐसा बोल कुरु-श्रेष्ठ महायोगेश कृष्णने ।
दिखाया अपना श्रेष्ठ ईश्वरी-रूप पार्थको ॥ ९ ॥

सिखाया गया पंछी ऐसा न बोलता । क्रीड़ा-रत मृग भी ऐसा न चलता ।
पार्थके दैवका उत्कर्ष जो दीखता । यहां अकथनीय ॥ १७० ॥

पर-ब्रह्म यह आज है संपूर्ण । भोगार्थ सिद्ध इसके ही नयन ।
इसकी बातका दुलार श्रीकृष्ण । करता है यहां ॥ ७१ ॥

पार्थ कोपता तब वह शांत रहता । यह रुसता तब वह है समझाता ।
अर्जुनसे पगलाया है जगन्नाथ । निश्चित रूपसे ॥ ७२ ॥

जनमें हैं वैसे विषय जीतकर । शुकादि पुरुष जो श्रेष्ठ मुनिवर ।
रह गये हैं लीला गाकर सुंदर । भाटोंके समान ॥ ७३ ॥

और योगियोंका समाधि-धन । हो रहा है पार्थके आधीन ।
देख यह विस्मित होता है मन । महाराज मेरा ॥ ७४ ॥

संजय कहता है कौरवेश । इसमें विस्मय नहीं खास ।
कृष्ण करलें जिसे आपना-सा । भाग्योदय उसका ॥ ७५ ॥

कहता है इसलिये देवराज । यह दिव्य-दृष्टि ले तू पार्थ आज ।
इससे देख विश्व-रूप सहज । पूर्ण रूपसे ॥ ७६ ॥

श्रीमुखके ऐसे अक्षर । निकले जिस अवसर ।
मिटा अविद्याका अंधार । उसी क्षणमें ॥ ७७ ॥

अक्षर नहीं थे वे देख । था ब्रह्म-साम्राज्य-दीपक ।
अर्जुनार्थ थी चित्कलिका । जगादी श्रीकृष्णने ॥ ७८ ॥

संपूर्ण ब्रह्मांड ही विश्व-रूपसे भर गया—

प्रकटे जो दिव्य-चक्षु फिर । ज्ञान-दृष्टिका फूटा अंकुर ।
तथा दिखाया है सविस्तर । ऐश्वर्य-योग ॥ ७९ ॥

अवतार है ये जो सकल । उस महा-सिंधुके कल्लोल ।
विश्व दीखता है मृगजल । उसके किरणोंसे ॥ १८० ॥

उचित उस अनादि भूमिका पर । प्रकट होता है चित्र स-चराचर ।
अपने आप अपनेमें दामोदर । दिखाता उसको ॥ ८१ ॥

बचपनमें श्रीपतिने जब। इकबार माटी खायी थी तब।
माताने क्रोधसे पकडी खब्ब। कलाई इसकी ॥ ८२ ॥

इसने तब डरके ऐसे। मुख दिखानेके बहानेसे।
माताको दिखाया था धीरेसे। ब्रह्मांड सारा ॥ ८३ ॥

या मधु-बनमें ध्रुवको जैसे। गंडस्थलको शंख लगानेसे।
वेद-मति भी कुंठित हो ऐसे। स्तवन किया उसने ॥ ८४ ॥

अनुग्रह वैसे कुरुपति। पार्थ पर करता श्रीपति।
जानती नहीं है अब मति। माया उसकी ॥ ८५ ॥

प्रकट हुवा यकायक योगैश्वर्य। कल्पांतमें होता जैसे जल-प्रलय।
विस्मयमें डूबा चित उस समय। धनंजयका ॥ ८६ ॥

आ-ब्रह्म उदकसे जैसे व्याप्त था। अकेला मार्कंडेय ही तैरता था।
विश्व-रूप विस्मयमें वैसे पार्थ। लगा लोटने ॥ ८७ ॥

अजी! कितना था यहां गगन। कौन ले गया वह जो महान।
कहें सब चराचर अर्जुन। औ' महाभूत भी ॥ ८८ ॥

मिट गया दिशाओंका नाम-निशान। तना नहीं होता अध-ऊर्ध्वका ज्ञान।
जागृतिसे लुप्त होता है स्वप्न। वैसे लोकाकार ॥ ८९ ॥

जैसे अनेक सूर्य-तेज प्रताप। करता स-चंद्र तारागण लोप।
वैसे निगल गया है विश्व-रूप। प्रपंच सर्वस्व ॥ ९० ॥

नहीं स्फुरता मनमें तब मनत्व। नहीं संभालता अपनेको बुद्धित्व।
लौट अया इंद्रियोंका इंद्रियत्व। हृदयमें ही ॥ ९१ ॥

केवल वहां स्तब्ध स्तब्धता। एकाग्र है स्वयं एकाग्रता।
पडी जैसे संमोहनावस्था। विचारोंपर ॥ ९२ ॥

देखता था वह ऐसा हो विस्मित। सम्मुख था चतुर्भुज रूप स्थित।
नाना रूप ले वही था सुसज्जित। चहूँ ओर ॥ ९३ ॥

होते जैसे वर्षा-ऋतुके बादल। या महा-प्रलयके तेजोमंडल।
वह रूप वैसा सर्वत्र सकल। भर रहा था एक-मात्र ॥ ९४ ॥

प्रथम स्वरूप समाधान । होकर रहा वह अर्जुन ।
खुले फिर उसने लोचन । देखा विश्व-रूप ॥ ९५ ॥

देखना इन्ही नयनोंसे । विश्व-रूप संपूर्ण ऐसे ।
वह दुलार भी कृष्णसे । हुवा पूर्ण ॥ ९६ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

विश्व-रूपकी अद्भुतता--

देखता तब वहां अनेक वदन । जैसे रमा-रमणके राज-भवन ।
प्रकट हुए अनेकानेक निधान । लावण्य श्रियाके ॥ ९७ ॥

या आनंद-वनमें आया बहार । या सौंदर्य राज्य मिले हैं अपार ।
वैसे देखता वदन मनोहर । श्रीहरिका वह ॥ ९८ ॥

उसमें भी थे जो अनेक । सहज अति भयानक ।
प्रलय-रात्रीके कटक । उठ आया है ॥ ९९ ॥

या मृत्युके ये मुख उत्पन्न । भयके दुर्ग रचे विभिन्न ।
या प्रलयाग्निके ये हवन- । कुंड खुले हैं ॥ २०० ॥

ऐसे अद्भुत औ' भयंकर । देखता है रूप धनुर्धर ।
कई सालंकृत औ' सुंदर । तथा सौम्य भी ॥ १ ॥

ज्ञान-चक्षुसे किया अवलोकन । किंतु न होता मुखोंका अंत न जान ।
स-कौतुक देखने लगा नयन । विश्व रूपके ॥ २ ॥

नाना वर्णका मानो कमल-वन । विकसित हो रहा था यह जान ।
आदित्य-समुदायसे वे नयन । देखने लगा पार्थ ॥ ३ ॥

जैसे कृष्ण मेघ-घटाओंमें । कौंधती बिजली प्रलयमें ।
वैसी देखी भ्रू-भंग तलमें । पिंगलानलकी ॥ ४ ॥

अनेक मुख औ' आंखें जिसमें अति अद्भुत ।
बहु दिव्य अलंकार अनेक दिव्य आयुध ॥ १० ॥